Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारिका

कहानियों और कथाजगत की जीवंत पाक्षिकी
वर्ष:24, अंक:351, 16 से 29 फरवरी, 1984

कहानियां

15 कौम : **मंजूर एहतेशाम**

26. पराजित योद्धा : **सुरेंद्र सुकुमार**

34. नेकीराम की चारपाइयां : **जगदीश चंद्र पांडेय**

46. जुर्म : **नर्मदेश्वर**

46. बैरंग चिट्ठी : **अब्दुल बिस्मिल्लाह**

50. थका हुआ माहौल : **मनमोहन कुमार**

धारावाही आयोजन

63. दर्शाक (बारहवीं किस्त) : **जैनेंद्र कुमार**

बहस

8. पीढ़ियां आमने-सामने : **भैरव प्रसाद गुप्त, काजी अब्दुस्सत्तार, रमेश उपाध्याय प्रदीप मांडव, रमेश बतरा तथा महेश दर्पण की बातचीत**

आत्मकथा अंश

55. मेरे सात जनम : **हंसराज रहबर**

विशेष आयोजन

67. फिल्मोत्सव-84 : **कुंवर नारायण**

अन्य आकर्षण

6. **आपकी बात**

23. तुलसीदास चंदन घिसैं : **हरिशंकर परसाई**

32. मथुरादास की डायरी

39. तस्वीर बोलती है : **ज्ञान दीक्षित**

45. कथा सूत्र : **राकेश वत्स**

52. गलियां जहां इतिहास कैद है : **बाला दुबे**

58. शरारत : **चंद्रकांत बक्षी**

61 **और भुलाये न बने**

70. भरतमुनि के वंशधर

73. पखवारे की पुस्तकें

सहायक संपादक : **अवधनारायण मुद्गल**

उप-संपादक **रमेश बत्तरा, सुरेश उनियाल, बलराम, महेश दर्पण**

आवरण : **डा० जगदीश वर्मा, धर्मवीर जयनर**

कलापक्ष : **रवि शर्मा**

पाठकों की सुविधा के लिए

हमें अक्सर पाठकों से शिकायती पत्र मिलते हैं कि उन्हें 'सारिका' अपने बुक स्टॉल पर मिल नहीं पाती, उनके पहुंचने से पहले ही सारी प्रतियां बिक जाती हैं. पाठकों की सुविधा के लिए हम उन्हें सलाह देंगे कि ये अपना चंदा आज ही ड्राफ्ट/मनीआर्डर के रूप में नीचे दिये गये कूपन के साथ हमें भेजें ताकि उन्हें 'सारिका' डाक से नियमित भिजवायी जा सके.

अब चंदे की रियायती दरें हैं वार्षिक : 80 रुपये अर्धवार्षिक : 41 रुपये.

कृपया मुझे/हमें निम्न पते पर एक वर्ष/छह माह के लिए 'सारिका' भेजने की व्यवस्था करें. समुचित राशि संलग्न है.

नाम ....

पता ....

....

हस्ताक्षर ....

चंदा तथा कूपन कृपया इस पते पर भेजें :
सर्कुलेशन मैनेजर, सारिका, टाइम्स ऑफ इंडिया, 7, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपकी बात

मंहगी मगर गहरी प्रेमिका

जिसका डर था वही हुआ. अंततः आपने एक अठन्नी बढ़ा ही दी, लेकिन कमाल यह कि नववर्ष की शुभकामनाओं के लपेट कर ऐसा किया. खैर, प्यार करने वाले अठन्नी से नहीं डरने वाले. हम अपनी 'सारिका' पर अब भी फिदा हैं और रहेंगे. यह मानकर कि वह एक महंगी प्रेमिका है.

यूं तो अंक 348 आद्यांत पठनीय एवं संग्रहणीय-सराहनीय है किंतु डा. नामवर सिंह से की गयी मुलाकात इस अंक की सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है. हिंदी कहानी यात्रा पर एक बेलौस एवं पूर्वग्रह-दुराग्रह से मुक्त सार्थक बातचीत अपने आप में मील का पत्थर के योग्य है. यह दीगर बात है कि वह कहीं-कहीं मेरे अंतस पर तीखा दंश भी मारती है. महिला-लेखन पर नामवर सिंह जी की चुप्पी या टालने वाली मुद्रा का क्या अर्थ लें? क्या यही कि महिला लेखन फालतू या बकवास है? दूसरे शब्दों में पुरुषों के लिए अपठनीय जैसा कुछ, या फिर वह तथाकथित 'जनानी-प्रोडक्ट' है इसलिए द्वितीय श्रेणी का मान लें. बहरहाल यह बहस का एक अलग एवं कुछ कसैला मुद्दा है. आशा है 'सारिका' अपने अगले अंकों में इसका जवाब देगी. और हां, कृपया पूर्वप्रकाशित कहानियां न छापें तो अच्छा रहेगा. कहानी 'किस्सा खतम' (डा. लक्ष्मीनारायण लाल) दैनिक 'आज' (वाराणसी) के दीपावली-विशेषांकः 1978 में प्रकाशित हो चुकी है.

☐ **सिद्धेश्वर सिंह 'मधुकर', नैनीताल**

स्वास्थ्य, सौंदर्य में भी वृद्धि

लगभग एक वर्ष बाद 'सारिका' के स्वास्थ्य और सौंदर्य में भी वृद्धि हुई है. आप इसलिए भी बधाई लेने के हकदार ठहरते हैं कि साहित्यकारों को रंगीन बनाकर आवरण पृष्ठ पर दिया गया है. लेकिन ये सारे चेहरे बासी-बासी नजर आये. सुंदर मॉडेल साहित्यकारों को चुना करें.

नामवर सिंह से पूछे से पूछे गये प्रश्न अधिक धारदार नहीं लगे. 'पीढ़ियांः आमने-सामने' अच्छी शुरुआत है. लेकिन इसके अंतर्गत प्रकाशित बातचीत से लगा कि बहस निर्जीव हुई है. पुष्पाजी के प्रश्न वैसे ही लगे, जैसे शहनाई वादक को थामने के लिए दल का कोई वादक सा रे ग म बजाता रहता है. सिर्फ सा रे ग म प ही.

☐ अजय वर्मा, दरभंगा

शुभकामना अंक पर गोष्ठी

मेरठ की साहित्यिक संस्था 'साहित्य चेतना' द्वारा 'सारिका' के 'नववर्ष शुभकामना अंक' पर विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया. गोष्ठी का आरंभ 'शहर के बीच उभरता एक और शहर' में मेरठ के लालित्यत्यपूर्ण साहित्यिक वर्णन से हुआ. प्रोफेसर हेमचंद्र शुक्ल ने कहा कि मुठभेड़, घेराबंदी, छोटा भारत-बड़ा भारत और दूसरा पहलू सरीखी प्रतीकात्मक कहानियों व वस्तुपरक लघु रचनाओं के कारण ही 'सारिका' ने जहां साहित्यक क्षेत्र में अपूर्व प्रसार पाया है, वहीं साधारण वर्ग में भी लोकप्रियता अर्जित की है.

नौनिहाल ने इस अंक की गजलों की चर्चा करते हुए कहा कि आधुनिक गजलों की तरह ये गजलें भी कमरे में बंद आदमी की जिंदगी को खिड़की के रास्ते झांकती नजर आती हैं. भुवेंद्र त्यागी ने 'पीढ़ियांः आमने-सामने' बहस को सृजनशील व असृजनशील, दोनों ही प्रकार के पाठकों, प्रबुद्ध वर्ग व बुद्धिजीवियों का 'साहित्यिक व्यायाम' निरूपित करते हुए कहा कि साहित्यिक जनमत तैयार करने की दिशा में यह 'सारिका' का सशक्त कदम है.

अरविंद, नीलम गुप्ता, मनीषा त्यागी व मयंक आदि ने अंक की सज्जा का विश्लेषण करते हुए कहा कि 'सारिका' के चित्र स्वयं ही विषयवस्तु का निरूपण करते हुए प्रतीत होते हैं.

डा. अजय विश्नोई, डा. वीरेश्वर दयाल, अमनदीप, रीता भार्गव और दीपक यादव ने दशार्क, तुलसीदास चंदन घिसैं, गलियांः जहां इतिहास कैद है, साक्षात्कार एवं लघुकथाओं पर विस्तृत चर्चा की.

'सारिका' के आगामी अंक पर विचार गोष्ठी नियत करते हुए सुश्री निर्मला कपूर ने गोष्ठी को समापन बिंदु तक पहुंचाया.

☐ भुवेंद्र त्यागी, पत्रकार, मेरठ

अनुत्तरित प्रश्न

नववर्ष शुभकामना अंक हमारे हाथों में है एवं उसे आद्योपांत पढ़ भी चुका हूं.

पीढ़ियांः आमने-सामने काफी रुचिकर लगी. उम्मीद है इस स्तंभ द्वारा नयी एवं पुरानी पीढ़ी के साहित्यकारों की आपसी सूझ-बूझ को काफी बढ़ावा मिलेगा. साथ ही स्वस्थ साहित्य की रचना में काफी सहयोग मिलेगा.

हरिशंकर परसाई की 'तुलसीदास चंदन घिसैं' आज की वर्तमान सामाजिक व्यवस्था पर एक करारी चोट है.

नामवर जी के साथ आपकी वार्ता भी काफी रुचिकर है. नामवरजी ने साहित्य की स्वस्थ आलोचना पर काफी प्रकाश डाला है. महिला कथाकारों के लेखन संबंधी प्रश्न पर उनका उत्तर मुझे कुछ स्पष्ट नहीं हो पाया.

☐ **डॉ. रवींद्र कुमार, हेमजापुर**

बकलम प्रेमचंद

पीढ़ियांः आमने-सामने (सारिका अंक 348) में प्रेमचंद एवं प्रगतिशील लेखक संघ के संबंध के बारे में श्री जैनेंद्र कुमार ने जो कुछ कहा है वह इतिहास को झुठलाने का एक प्रयास है. यह जानते हुए भी कि प्रेमचंद उनका जवाब देने के लिए जीवित नहीं हैं, जैनेंद्र कुमार ने अपने मन की बात प्रेमचंद के मुंह से कहलवा ली है. प्रेमचंद ने प्रगतिशील लेखक संघ के घोषणापत्र पर आस्था एवं विश्वास के साथ हस्ताक्षर किए थे, अभिभावकत्व के भाव से नहीं. इसका प्रमाण है—सम्मेलन में पढ़ा गया उनका सुप्रसिद्ध लेख. 'साहित्य का उद्धेश्य' तथा एक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मौनभंग का एहसास

'सारिका' का नव वर्ष शुभकामना अंक पढ़कर तसल्ली हुई और यह आशा जागृत हुई कि भविष्य में 'सारिका' नये और सशक्त रूप में सामने आयेगी. इस अंक से प्रारंभ नये स्तंभ 'तुलसी दास चंदन घिसैं' 'भतरमुनि के वंशधर' और 'पीढ़ियां: आमने-सामने' अच्छी, उपयोगी एवं बौद्धिक सामग्री दे सकेंगे, हरिशंकर परसाई के शीघ्र लुच्चई पर उतर आने की बेसब्री से प्रतीक्षा है.

इस अंक की 'पीढ़ियां: आमने-सामने' की बहस में जैनेंद्र कुमार, धर्मवीर भारतीय एवं गोविंद मिश्र के होते हुए भी इनसे इतना कुछ नहीं मिल पाया, जितना इनका होना आशा जगाता है.

डॉ. नामवर सिंह से साक्षात्कार इस अंक की उपलब्धि है. डा. नामवर सिंह ने अपनी चुप्पी वर्षों में तोड़ी पर एक धमाके के साथ.

इस अंक की सभी कहानियां प्रभाव- शाली रहीं. विशेषकर मुद्रा-राक्षस और बीर राजा की.

☐ **गोविंद माथुर, जयपुर**

यात्रा बनाम पिकनिक

नववर्ष शुभकामना अंक में 'एक चित्र-यात्रा' संस्मरण पढ़ा. किसी साहित्यिक यात्रा में लगभग तीन हजार चित्र खींच कर राजधानी की आकर्षक आर्ट गैलरी में उसका प्रदर्शन कर देने मात्र को अज्ञेयजी अथवा अन्य साहित्य-कार यदि अपनी उपलब्धि मान बैठे हैं तो यह उनकी भारी भूल है. क्योंकि देश के असाहित्यिक फोटोग्राफी के शौकीन धनी ऐसे तीस हजार चित्रों की प्रदर्शनी कर सकते हैं. फिर उनकी उपलब्धि अज्ञेयजी से भला किस तरह कम मानी जाएगी? संत तुलसीदास, महर्षि अरविंद, स्वामी विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, भातरेंदु जैसे प्रबुद्ध विचारकों ने न सिर्फ देश और समाज का मार्गदर्शन किया, अपितु राजनीति तथा संस्कृति को नया आयाम दिया था.

यात्रा-चित्रों की प्रदर्शनी नेताओं-मंत्रियों की लीक पर चलने जैसी ही है. अंतर बस इतना है कि नेताओं के चित्र परदे पर दिखाये जाते हैं जबकि साहित्यिक यात्रा की दृश्यावली आर्ट गैलरी में प्रदर्शित की गयी.

'जय जानकी जीवन-यात्रा' से संबंधित निर्वासित-तिरस्कृता सीता का जो प्रश्न आज की शोषित-प्रताड़ित नारी के साथ जुड़ा हुआ है यदि उसके समाधान की दिशा में ये साहित्यिक यात्री किसी योजना का समारंभ करते तो एक सार्थक कार्य होता. अस्तु, वत्सलनिधि के अगुवा और प्रयोगवाद के जन्मदाता अज्ञेय की परित्यक्ता सीता के प्रति सच्ची सहानुभूति या श्रद्धांजलि नारी जाति को यातना मुक्त करने के उद्देश्य से सक्रिय आंदोलन चलाना होगी. अन्यथा उनकी बहुचर्चित यात्रा महज पिकनिक या परंपरागत धार्मिक यात्रा मानी जाएगी.

☐ **मधुसून 'आत्मीय', मुंगेर**

परंपरा तोड़ने का सुख

'सारिका' का नववर्ष शुभकामना अंक देखकर ऐसा प्रतीत हुआ कि सारिका अपनी विगत कुछ वर्षों की परंपरा को तोड़ रही है. इस अंक में सबसे कामयाब सामग्री थी—नामवर सिंह से ली गई भेंट-वार्ता.

नामवर जी से कहानी पर बात करना अपने आप में एक विशिष्ट अनुभव है. मैं यहां एक बात और जोड़ना चाहूंगा कि उनसे कहानी पर एक लंबे अरसे के बाद सुनना या उनको पढ़ना भी अपने आप में एक विशिष्ट अनुभव है.

☐ **अरुण श्रीवास्तव, बेतिया**

सारिका का 'नववर्ष शुभकामना अंक' कश्मीर से नागपुर जाते हुए सफर के दौरान पढ़ गया. पीढ़ियों को आमने-सामने लाकर जो बहस छिड़ी है, रोचक है. दोनों पीढ़ियों के बीच एक ठंडी नदी बह रही है, दोनों इस पार और उस पार खड़े हैं. एक दूसरे को दूरियों से देखते हैं. दौड़ती हुई गाड़ी में 'सारिका' की इस बहस की बदौलत तरह-तरह के विचार उभरते और विलीन होते रहे.

☐ **डॉ. अग्निशेखर, कश्मीर**

नयी संभावनाओं का जन्म

नववर्ष शुभकामना अंक 348 में नामवर सिंह और जैनेंद्र कुमारजी से हुई इस यकायक 'मुठभेड़' में कहानी की स्थिति व दिशा की एक झलक मिलती है. सारिका द्वारा आरंभ इस अध्याय से नयी व पुरानी पीढ़ी एक दूसरे की तकलीफें... शिकायतें तो समझने का प्रयास करेंगी ही साथ ही कहानी साहित्य के ठोस धरातल पर सही दिशा को प्राप्त करने का रास्ता भी तलाशेंगी, ऐसी आशा है.

सारिका का यह अंक एक महत्वपूर्ण दस्तावेज बन गया है. एक साथ कई रचनायें प्रभावित करती हैं. श्रीलाल शुक्ल की 'दो व्यंग्य कृतियां' अवश्य 'कहानीपन' की कुदाली से व्यवस्था व अफसरशाही द्वारा जनता को बेवकूफ बनाने की प्रक्रिया की जड़ को खोदने में सशक्त एवं सफल हैं. पैनी भी.

श्री अवधनारायण मुद्गल जी ने छोटी कहानी—'छोटा भारत-बड़ा भारत' द्वारा देश के लाचार नंगे लोगों को और नंगा बनाकर उन्हें भोंडा और खिल्ली का पात्र बनाकर पेश करने वाले षड्यंत्रकारियों की एक बड़ी पोल खोली है.

'दशार्क' छोड़कर शेष शुभ...

☐ **पुष्कर द्विवेदी, इटावा**

प्रसिद्ध लेख 'महाजनी सभ्यता'. प्रेमचंद ने प्रगतिशील लेखक संघ के बनाने में कितनी रुचि ली है, संघ के संस्थापकों में से एक सज्जाद जहीर को लिखे गए इस पत्र से स्पष्ट है. प्रेम चंद ने लिखा था—"मैंने यहां ब्रांच कायम करने की कोशिश की है. तुम इसके मुताबिक जितना लिटरेचर हो भेज दो तो मैं यहां के लेखकों को एक दिन जमा करके बातचीत करूं. बनारस कदायतपरस्ती का अड्डा है और हमें शदीद मुखालफत का भी सामना करना पड़ेगा. लेकिन दो-चार भले आदमी तो मिल ही जायंगे. जो हमारे साथ इश्तिराक कर सकें, यहां शाखा खुल जाएगी. फिर मैं पटना जाऊंगा और वहां भी एक शाखा काम करने की कोशिश करूंगा. आज बाबू संपूर्णानंद से इसी के मुताबिक कुछ बातें हुईं. वे भी मुझी को आगे करना चाहते हैं. मैं चाहता था कि वे पेशकदमी करते मगर शायद उन्हें मसरूफियतें बहुत हैं. बाबू जयप्रकाश नारायण से भी बातें हुईं. उन्होंने प्रोग्रेसिव अदबी हफ्तेवार हिंदी में शाया करने की सलाह दी, जिसकी उन्होंने काफी जरूरत बताई. अंग्रेजी मैगजीन का मसला भी सामने है. मैं समझता हूं कि हर एक जवान में एक-एक प्रोग्रेसिव पर्चा चल सकता है."

☐ **डा. रामबहादुर वर्मा, रायबरेली**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

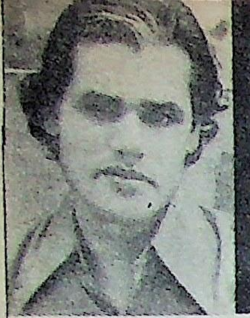

पीढ़ियां आमने-सामने

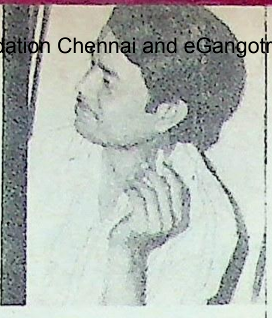

दिल्ली में 16 जनवरी 1984 की शाम को एक जगह भैरव प्रसाद गुप्त, काजी अब्दुस्सत्तार, रमेश उपाध्याय, प्रदीप मांडव, रमेश बत्तरा, महेश दर्पण इकट्ठे बैठे थे. लगभग तीन पीढ़ियां एक साथ... और सबके सब कथाकार... सबसे बुजुर्ग और अनुभवी भैरवजी न सिर्फ एक सशक्त तथा जीवंत लेखक हैं, बल्कि 'माया' और 'नयी कहानी' जैसी कथा-पत्रिकाओं के यशस्वी संपादक और 'नयी कहानी' आंदोलन के सूत्रधार भी रहे हैं. पहले लंबे अरसे तक प्रगतिशील आंदोलन से जुड़े रहे हैं और आजकल जनवादी लेखक संघ के अखिल भारतीय संगठन के अध्यक्ष हैं. स्वाभाविक था कि सब लोग पहले उनके अपने अनुभव और विचार सुनना चाहते थे. अपनी बात उन्होंने 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के समय हिंदी कहानी की स्थिति से शुरू की....

भैरव प्रसारद गुप्त : सन् 1936 में प्रेमचंद की अध्यक्षता में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का पहला अधिवेशन हुआ था. उस समय तक कहानी करीब-करीब हिंदी जगत में छा चुकी थी. उस समय बहुत-से कहानीकार कहानियां लिख रहे थे, जिनमें यशपाल, अज्ञेय और जैनेंद्र प्रमुख थे. उसके बाद प्रगतिशील लेखक आंदोलन शुरू हुआ तो और कई कहानीकार उभरकर सामने आये, जिनमें उपेंद्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा आदि थे.

प्रदीप मांडव : प्रगतिशील आंदोलन के दौरान उभरे लेखकों का प्रमुख योगदान क्या था ?

भैरव प्रसाद गुप्त : प्रगतिशील आंदोलन के दौरान निश्चय ही लेखकों ने प्रेमचंद की विरासत को संभाला और उसे आगे बढ़ाने का प्रयास किया. वह साम्राज्यवाद-विरोध का दौर था. लेकिन प्रगतिशील आंदोलन सिर्फ साम्राज्यवाद-विरोध तक सीमित नहीं रहा, बल्कि राष्ट्रीय पूंजीपतियों और सामंतों के खिलाफ भी उसने काम किया... और सबसे बड़ी बात यह थी कि प्रगतिशील लेखकों ने प्रेमचंद से आगे बढ़कर मजदूरों और किसानों पर लिखना शुरू किया. एक बहुत बड़ा मोड़ था.

महेश दर्पण : आप स्वयं प्रगतिशील लेखक संघ से कब जुड़े ?

भैरव प्रसाद गुप्त : सन् 1944 में उस समय मैं 'माया' में आ गया था. मगर 'माया' का स्वर प्रगतिशील नहीं था. प्रगतिशील लेखक संघ की सदस्यता स्वीकार कर लेने के बाद मेरी जानकारी बढ़ी—प्रगतिशील लेखक आंदोलन के बारे में, मार्क्सवाद के बारे में, साम्यवाद के बारे में... और तब 'माया' को धीरे-धीरे मैंने बदलना शुरू किया और सन् 1949-50 तक आते-आते 'माया' एक तरह से प्रगतिशील कहानीकारों की पत्रिका हो गयी. जिसमें लगातार यशपाल, रांगेय राघव, भगवतशरण उपाध्याय, अमृतलाल नागर; पहाड़ी, अमृतराय आदि की कहानियां छपने लगीं. इस स्थिति में 'माया' एक तरह से दूसरे खेमे के कहानीकारों में बदनाम भी हो गयी थी. जैनेंद्र की कहानियां तो कभी-कभी छपती थीं. परंतु मेरे संपादन-काल में अज्ञेय की भी एक कहानी नहीं छपी. हिंदी की कहानियों के साथ-साथ मैं 'माया' में अन्य भारतीय भाषाओं की—बंगला, मराठी, गुजराती तथा दक्षिण भारतीय भाषाओं की कहानियां भी छापता था. 1947 में 'माया' का एक विशेषांक छपा था. जिसमें विदेशों के प्रगतिशील मार्क्सवादी या कम्युनिस्ट लेखकों की कहानियां भी छपी थीं. दूसरी बात यह कि 'माया' के उन पुराने लेखकों को बहुत तकलीफ होने लगी थी जो पहले उसमें बहुत छपते थे. जैसे प्रदीप नाम के एक लेखक थे...

प्रदीप मांडव : जो बाद में फिल्मी गीत लिखने लगे थे...?

भैरव प्रसाद गुप्त : हां, वही. दूसरे एक और लेखक थे जो पौराणिक धारा की कहानियां लिखा करते थे. ये दो लेखक पहले 'माया' में बहुत छपते थे. ये लोग बहुत लंबी-लंबी पौराणिक कहानियां लिखते थे जो बहुत ही मनोरंजनपूर्ण होती थीं. जाहिर है, जब ये कहानियां छपनी बंद हो गयीं तो इनकी भी शिकायतें आने लगीं. इसका परिणाम यह हुआ कि 1951-52 आते-आते, मुझ पर थोड़ा अंकुश लगाने की कोशिश शुरू हो गयी. खैर, तो नतीजा यह हुआ कि मालिकों ने मुझसे कहा कि आप 'माया' छोड़ दीजिए, इसको हम कुछ दिलचस्प बनाने की सोच रहे हैं.

रमेश बत्तरा : वहां से छोड़ा कब?

भैरव प्रसाद गुप्त : सन् 1954 में 'माया' को हमने छोड़ दिया. लेकिन संयोग कुछ ऐसा हुआ कि 1 जनवरी को हमने छोड़ा और दूसरे या तीसरे दिन ही श्रीपतराय से मेरी भेंट हुई. उन्होंने एक महीना पहले ही अपनी पुरानी पत्रिका 'कहानी' को, जिसे वे पहले बनारस से निकालते थे, फिर से शुरू किया था और श्यामू संन्यासी को संपादक बनाया था. लेकिन जब उन्हें पता चला कि मैंने 'माया' को छोड़ दिया है तो उन्होंने कहा कि आप हमारे यहां आ जाइए और 'कहानी' को संभालिए.

महेश दर्पण : हां, इस बात का जिक्र आया था. मन्नू भंडारी ने कहा है कि कहानी उन्होंने श्यामू संन्यासी के नाम भेजी थी और छपी आपके संपादन में....

भैरव प्रसाद गुप्त : हां, तो उसके पहले ही वर्ष में—1955 में मैंने 'कहानी' का एक विशेषांक निकाला. इस विशेषांक को मैंने इस रूप में आयोजित किया था कि इसमें पुरानी पीढ़ी के कहानीकार भी रहें. नयी पीढ़ी के भी रहें. और भारत से सभी भाषाओं में जो प्रतिष्ठित कहानीकार हैं, उनकी भी एक-दो कहानियां रहें. उद्देश्य यह था कि कहानी के विकास-क्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की जा सके और पाठक तथा लेखक विशेषांक पढ़कर यह समझ सकें कि हमारी पुरानी पीढ़ी के कथाकार—यशपाल आदि—कैसा लिख रहे हैं, या कि नये कहानीकार—जैसे मार्कण्डेय, अमरकांत, शेखर जोशी आदि—कैसी कहानियां लिख रहे हैं, और दूसरी भाषाओं में कैसी कहानियां लिखी जा रही हैं.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रमेश बत्तरा : इतने परिश्रम के साथ 'माया' को एक स्वरूप देने के बाद आपने उसे छोड़ क्यों दिया ?

भैरव प्रसाद गुप्त : जब सब लोग यह कहने लगे कि यह तो प्रगतिशीलों की पत्रिका हो गयी है तो मालिकों के दिमाग में भी यह बात बैठने लगी. लोगों ने उनसे शिकायत भी करना शुरू कर दिया.

रमेश उपाध्याय : भैरवजी, यह बताइए कि इनमें और पहले की कहानियों में क्या फर्क था ?

भैरव प्रसाद गुप्त : इस सवाल का जवाब इस तरह दिया जा सकता है कि इन कहानियों के साथ ही 'नयी कहानी' आंदोलन की शुरुआत हुई.

रमेश उपाध्याय : इसीलिए मैंने पूछा.

भैरव प्रसाद गुप्त : एक फर्क यह था कि यशपाल, इलाचंद्र जोशी, अमृतलाल नागर, भगवती चरण वर्मा या वे लेखक जो प्रेमचंद के जमाने से लिखते चले आ रहे थे, उनकी कहानियां नाटकीय होती थीं, काल्पनिक होती थीं. ये लेखक किसी सवाल या समस्या को उठा लिया करते थे और अपनी भाषा या शिल्प के बल पर कहानी खड़ी कर दिया करते थे. लेकिन जो नये कहानीकार आये, उन्होंने सचमुच जीवन के यथार्थ को अपना विषय बनाया और उसी तरह की भाषा और शिल्प को अपनाया. नये कहानीकारों की कहानियां हर रूप में भिन्न थीं—कथ्य की दृष्टि से, कला की दृष्टि से, भाषा और शिल्प की दृष्टि से भी. उसी समय ग्रामीण-कथा शुरू हुई...

प्रदीप मांडव : आंचलिक....?

भैरव प्रसाद गुप्त : आंचलिक नहीं. आंचलिक कहानी बाद में आयी. ग्रामीण-कथा अलग चीज थी. उसमें ग्रामीण चरित्र थे, गांव के लोगों की समस्याएं थीं, गांव के लोगों की भाषा थीं. कहानियों में बोलियों का पुट दिया जाता था. कस्बों की कहानियां भी लिखी गयीं. कमलेश्वर तो कस्बे के कहानीकार ही कहलाने लगे.

प्रदीप मांडव : इसमें कौन-कौन सी कहानियां थीं ?

भैरव प्रसाद गुप्त : कई कहानियां थीं, जैसे रांगेय राघव की 'गदल', विष्णु प्रभाकर की 'धरती अब भी घूम रही है', अमरकांत की 'डिप्टी कलक्टरी' आदि. यशपाल, मार्कण्डेय आदि की कहानियां भी थीं. एक कहानी मेरी भी थी 'फूल', भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' और मोहन राकेश की 'मलबा' भी थीं.

रमेश बत्तरा : 'नयी कविता' के आंदोलन से कुछ संबंध था इसका?

भैरव प्रसाद गुप्त : इस समय दरअसल वातावरण 'नयी कविता' का ही था, क्योंकि 1952 के आते-आते प्रगतिवाद तो बिखर गया था. लेकिन 'नयी कविता' का आंदोलन चल रहा था. अज्ञेय के नेतृत्व में चलने वाला यह आंदोलन हालांकि बहुत सीमित था, लेकिन चर्चा में था. साहित्य की बात कविता के रूप में ही होती थी और उसमें भी 'नयी कविता' की ही बात होती थी. लेकिन जब 'नयी कहानी' का आंदोलन शुरू हुआ और नये-नये कहानीकार उभरने लगे, 'कहानी' पत्रिका के माध्यम से उनका प्रचार-प्रसार

होने लगा तो 'नयी कविता' का आंदोलन धीरे-धीरे खत्म हो गया.... .

रमेश उपाध्याय : बल्कि कई कवि तो कहानियां भी लिखने लगे....

भैरव प्रसाद गुप्त : हां, जैसे रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर.

रमेश बत्तरा : जो कहानीकार उस समय आये और आपके द्वारा संपादित विशेषांक में जिनकी कहानियां छपीं, उनमें से कई लोग आज भी कहानी लिख रहे हैं. लेकिन यह बताइए कि उनका लिखना कमतर क्यों होता चला गया....

प्रदीप मांडव : कुछ का तो लिखना बिल्कुल बंद ही हो गया....

भैरव प्रसाद गुप्त : उस समय वातावरण और था, आज का वातावरण और है. 'नयी कहानी' आंदोलन के दौरान ऐसा वातावरण बनाया गया था कि नये कहानीकारों में यह होड़ लगी हो कि कौन किससे बेहतर कहानी लिखता है. आज वह होड़ का वातावरण नहीं है. दूसरी बात यह कि 'नयी कहानी' का आंदोलन प्रगतिवाद के आंदोलन के टूट जाने पर एक नये प्रगतिशील आंदोलन के रूप में आया था. उसे मैंने यह रूप दिया था. 'परिमल' वालों ने इसका विरोध किया... और जब किसी आंदोलन में शक्ति होती है तो विरोध होने पर वह और भी शक्तिशाली बनता है. एक बात यह भी थी कि 'परिमल' की परंपरा गोष्ठियों की थी, जबकि प्रगतिशील लेखक संघ की परंपरा सम्मेलनों की थीं. इस तरह अब कवि-सम्मेलनों की तरह कहानी-सम्मेलन होने लगे. कई जगह 'शाम-ए-अफसाना' के आयोजन हुए. कहानीकार कहानी पढ़ते और हजारों लोग सुनते थे.

महेश दर्पण : आपने किसी ऐसे कहानी-सम्मेलन या कहानी की शाम में भाग लिया हो तो उसके विषय में बतायें.

भैरव प्रसाद गुप्त : उज्जैन में मुझे बुलाया गया था. यह बात 1962 की है. प्रेमचंद जयंती के अवसर पर हरिशंकर परसाई और रमेश बक्षी आदि ने वह आयोजन किया था...तो मैं कह रहा था कि 'नयी कहानी' आंदोलन के एक वातावरण बनाया जिसमें नये कहानीकारों को खूब लिखने और अच्छा लिखने की प्रेरणा मिलती थी. उस समय जो अच्छी कहानी छपती थी, बहुत चर्चित होती थी. 'कल्पना' पत्रिका पर हालांकि परिमल वाले छाये हुए थे, लेकिन उसमें मार्कण्डेय छद्मनाम से एक कॉलम लिखते थे...

रमेश उपाध्याय : शायद 'चक्रधर' नाम से 'साहित्यधारा'...?

भैरव प्रसाद गुप्त: इससे पहले कहानी पर ज्यादा कुछ लिखा नहीं गया था. और जो लिखा गया था वह सतही था. कहानी को इससे पहले कोई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक विधा माना ही नहीं गया. यहां तक कि प्रेमचंद को भी 'उपन्यास-सम्राट' ही कहा गया, 'कहानी सम्राट' कभी नहीं.

प्रदीप मांडव : यह दौर कब तक चला ?

भैरव प्रसाद गुप्त : 'नयी कहानी' का आंदोलन 1960 तक 'कहानी' के माध्यम से चला. इसके बाद मेरे साथ कुछ वैसी ही घटना घटी जैसी 'माया' में घटी थी. श्रीपतराय को भी एक शुक्लजी के कहने पर 'कहानी' को व्यावसायिक पत्रिका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाने की सूझ गयी. लेकिन मैंने 'कहानी' छोड़ने के तुरंत बाद राजकमल प्रकाशन के डायरेक्टर ओंप्रकाशजी के आग्रह पर 'नयी कहानियां' के संपादन का कार्यभार संभाल लिया. इसके बाद 'नयी कहानी' का आंदोलन करीब तीन साल और चला. 'नई कहानियां' में कुछ और कॉलम मैंने जोड़े. कहानी-समीक्षा को और जोरदार बनाया गया. नामवर सिंह ने इसमें 'हाशिये पर' कॉलम शुरू किया. जो अच्छी कहानियां छपती थीं, उनकी चर्चा वे इसमें करते थे. लेकिन उसके बाद जब मैंने 'नयी कहानियां' को छोड़ दिया तो 'नयी कहानी' का आंदोलन बिखर गया. उसका संपादन कमलेश्वर ने ले लिया.और दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, रविंद्र कालिया वगैरह साठोत्तरी पीढ़ी के कहानिकारों को छापना शुरू कर दिया. और नामवर सिंह की जगह मिले इनको धनंजय वर्मा... जो जाहिर है कि जब आंदोलन बिखरा तो इसका प्रभाव 'नयी कहानी' आंदोलन के कहानीकारों पर भी पड़ा और उनका लिखना या तो पहले जैसा नहीं रहा, या करीब-करीब बंद हो गया.

प्रदीप मांडव : लेकिन, बात कुछ एकपक्षीय नहीं हो रही है ? किसी एक व्यक्ति के किसी एक पत्रिका से हट जाने से क्या आंदोलन बिखर जाया करते हैं ?

भैरव प्रसाद गुप्त : आंदोलन में व्यक्ति की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है.

प्रदीप मांडव : तो क्या 'प्रगति आंदोलन' भी किसी व्यक्ति के कारण चला और किसी व्यक्ति के कारण बिखरा ?

भैरव प्रसाद गुप्त : प्रगतिशील आंदोलन बिखरा, लेकिन प्रगतिशील लेखन खत्म नहीं हुआ. प्रगतिशील लेखक नहीं बिखरे थे. जैसे हम बराबर प्रगतिशील बने रहे. हम सभी, प्रगतिवादी आंदोलन के न होते हुए भी प्रगतिवाद से जुड़े हुए थे... और कहानी-आंदोलन को जो नया रूप दिया गया, इसीलिए दिया गया कि इस आंदोलन के माध्यम से हम वही काम करें जो प्रगतिवादी आंदोलन के माध्यम से हो रहा था.

रमेश उपाध्याय : आंदोलन में व्यक्तियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, यह तो ठीक है, लेकिन आंदोलनों के चलने और बिखरने के पीछे कुछ ठोस कारण होते हैं. प्रगतिवाद का आंदोलन एक विशेष सामाजिक-सजनीतिक परिस्थिति में शुरू हुआ था और एक विशेष सामाजिक-राजनीतिक परिस्थिति के कारण ही बिखरा था. इसलिए मेरा खयाल है कि 'नयी कहानी' आंदोलन को भी आप सामाजिक-राजनीतिक परिस्थिति से जोड़कर देखें और...

भैरव प्रसाद गुप्त : साहित्यक आंदोलन राजनीतिक आंदोलन नहीं होते. साहित्य में न कोई राजनीतिक आंदोलन चला है, न चल सकता है. साहित्यक आंदोलनों के शुरू होने और खत्म होने के कारणों को सांस्कृतिक क्षेत्र में खोजना चाहिए. 'नयी कहानी' का आंदोलन उस समय बिखरा जब साहित्य का लेखन और प्रकाशन बेतरह व्यावसायिक होने लगा था... और अब तो बहुत ही ज्यादा हो गया है. कहानी की एक भी अच्छी पत्रिका नहीं रह गयी है.

रमेश बत्तरा : क्या आंदोलन जरूरी होते हैं?

भैरव प्रसाद गुप्त : आंदोलन जरूरी है. आंदोलन के बिना कोई विधा विकसित नहीं होती.

महेश दर्पण : आप 'नयी कहानी' आंदोलन के बिखरने की बात बता रहे थे...

भैरव प्रसाद गुप्त : हां, मैं कह रहा था कि जब 1962 में मैंने 'नयी कहानी' पत्रिका का संपादन छोड़ा तब साहित्य पर व्यावसायिकता हॉवी होने लगी थी. व्यावसायिकता का मतलब है कि जिस तरह रोजी-रोटी कमाने के लिए कारखाने में मजदूर काम करते हैं, ठीक उसी तरह लेखक, बुद्धिजीवी या संपादक भी लेखन या संपादन का काम करने लगते हैं. और व्यावसायिकता में होता यह है कि फसल बोता कोई और है, काटता कोई और है. काटना बहुत आसान काम है, बोने में बहुत कठिनाई होती है... तो 'नयी कहानी' आंदोलन की फसल काटने का काम भारती ने किया. भारती ने 'धर्मयुग' में राजेंद्र यादव, कमलेश्वर और मोहन राकेश का त्रिकोण बनाकर उछाला और नये कहानीकारों की एक सीरीज़ छापी...

रमेश उपाध्याय : 'कथा-दशक' नाम से, जिसमें पहले एक कहानीकार का वक्तव्य आता था और अगले सप्ताह उसकी कहानी...

भैरव प्रसाद गुप्त : हां, वही इसका उद्देश्य यह था कि जो सही माने में 'नयी कहानी' आंदोलन के लेखक थे, जिनके कारण 'नयी कहानी' आंदोलन को याद किया जायेगा, उनको नजरअंदाज किया जाये और उन कहानीकारों को प्रमुखता दी जाये जो दरअसल 'नयी कहानी' आंदोलन की मुख्यधारा में नहीं आते राजेंद्र यादव, राकेश और कमलेश्वर के यहां आपको मजदूरों-किसानों की कहानियां नहीं मिलेंगी. जिनमें जीवन के संघर्ष हों, बल्कि ये अधिकतर मध्यम वर्ग के कहानीकार हैं....

प्रदीप मांडव : इन लोगों ने 'मेरा हमदम: मेरा दोस्त' जैसी लेखनमालाएं भी लिखीं, जिनमें एक-दूसरे को खूब उछाला...

महेश दर्पण : लेकिन जैसा आप कह रहे हैं कि ये लोग 'नयी कहानी' की मुख्यधारा में नहीं आते, तो यह बताइए कि वे लोग कौन थे जिन्हें आप-'नयी कहानी' की मुख्यधारा से जुड़ा हुआ मानते हैं ?

भैरव प्रसाद गुप्त : मैं इस संदर्भ में नाम लूंगा...मार्कंडेय का, शेखर जोशी का, और मैं नाम लूंगा अमरकांत का, शिव प्रसाद सिंह का, उषा प्रियंवदा का, मन्नू भंडारी का, रामकुमार का, भीष्म साहनी

रमेश बत्तरा : भीष्म सहानी, अमरकांद, मन्नू भंडारी आज भी कहानी लिख रहे हैं. इन लोगों के लेखन के प्रति आज आप कितने आश्वस्त हैं ?

भैरव प्रसाद गुप्त : मैं आश्वस्त नहीं हूं. बिल्कुल आश्वस्त नहीं हूं. और अमरकांत के बारे में नामवर खुद भी लिख चुके हैं कि इनमें गिरावट आयी है. जाहिर हैं कि अमरकांत जो आजकल लिख रहे हैं, उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं है...

रमेश बत्तरा : मगर इधर एक साक्षात्कार में (**सारिका : 1 जनवरी, 84—नामवर सिंह से अवधनारायण मुद्गल और महेश दर्पण की बातचीत**) नामवर सिंह ने इच्छा व्यक्त की है कि वे अमरकांत की रचनाधर्मिता पर विस्तार से लिखना चाहते हैं...

प्रदीप मांडव : यह बतायें कि जिस 'नयी कहानी' आंदोलन को आपने इतने बड़े उद्देश्य से चलाया था, सहसा वह रूपवाद की ओर क्यों मुड़ गया ? निर्मल वर्मा की कहानी 'परिंदे' का ही ढोल क्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीटा गया ? या कि 'लंदन की एक रात'...

भैरव प्रसाद गुप्त : 'लंदन की एक रात' बुरी कहानी तो नहीं है. क्या यह कोई प्रतिक्रियावादी कहानी है ? 'लंदन की एक रात' एक नयापन लेकर आयी थी...

रमेश बत्तरा : क्या 'नयी कहानी' आंदोलन के दौरान आपसे कोई ऐसी गलती हुई, जो याद आती है...?

भैरव प्रसाद गुप्त : कोई गलती नहीं हुई सिवाय इसके कि हमने नामवर सिंह को इसका सिद्धांतकार बनाया.

रमेश बत्तरा : अच्छा, उपाध्यायजी, आप 'नयी कहानी' के जमाने से ही कहानियां लिख रहे हैं. उसके बाद के तमाम आंदोलन आपने देखें हैं,उनमें से कुछ में आप शामिल भी रहे हैं.

रमेश उपाध्याय : जहां तक मेरा सवाल है, मैंने लिखना उस समय शुरू किया जिस समय के बारे में भैरव दा ने बताया है कि 'नयी कहानी' का आंदोलन बिखर रहा था. मेरी पहली कहानी 1962 में 'लहर' में छपी थी. उस समय मैं ज्यादा पढ़ा-लिखा नहीं था. अजमेर में मजदूरी करता था, लेकिन साहित्य में और विशेष रूप से कहानी में मेरी रुचि उत्पन्न हो गयी थी. पढ़ता-लिखता था, लेकिन साहित्यिक आंदोलनों में मेरा कोई लेना-देना नहीं था. 'नयी कहानी' का बोलबाला था, लेकिन उस समय तक 'नयी कहानी' भी पुरानी घोषित की जाने लगी थी. 1961 में 'लहर' ने अपना कहानी विशेषांक हालांकि 'नयी कहानी विशेषांक के नाम से ही निकाला था, लेकिन उसमें 'नयी कहानी' आंदोलन के प्रमुख लेखकों से भिन्न लेखकों की कहानियां प्रकाशित हुई थीं. उसमें एक तरफ अगर उषा प्रियवंदा, हरिशंकर परसाई, रमेश बक्षी आदि की कहानियां थीं तो दूसरी तरफ ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह, मलयज और रमाकांत की कहानियां भी थीं. और देवीशंकर अवस्थी ने उसमें लिखा था कि पिछले कुछ समय में हिंदी कहानी में बासीपन-सा आ गया है. लगता है कि पुराने फार्मूले दोहराये जा रहे हैं. वजह शायद यह थी कि कहानी के क्षेत्र में एक नयी पीढ़ी आ गयी थी और नये ढंग की कहानियां लिख रही थी. 'नयी कहानियां' पत्रिका में भैरवजी के हटने के बाद जब कमलेश्वर आये तो इस नयी पीढ़ी के कहानीकारों की एक सीरीज़ शुरू हुई और नामवर सिंह ने भी 'नयी कहानी' के झंडाबरदारों की आलोचना करते हुए इस नयी पीढ़ी का स्वागत किया...

महेश दर्पण : हां, 'एक नयी शुरूआत' के नाम से...

रमेश बत्तरा : आपका 'नयी कहानी' आंदोलन के बारे में तब क्या विचार था और आज आप उसे क्या समझते हैं ?

रमेश उपाध्याय : लिखना जिस समय शुरू किया था, उस समय तो कोई बहुत स्पष्ट विचार नहीं था, लेकिन आगे चलकर धीरे-धीरे यह बात समझ में आयी कि 'नयी कहानी' आंदोलन में दो धाराएं थीं. एक धारा वह थी जो प्रेमचंद की यथार्थवादी परंपरा से जुड़ी हुई थी और जिसके अंतर्गत प्रगतिशील चेतना से संपन्न यथार्थवादी कहानियां लिखी जाती

"आलोचक रचना के साथ यात्रा ही नहीं करना चाहता. यही कारण है कि आलोचना, जिससे लेखन का प्रसार होता है, अब उलटा असर कर रही है."

थीं. दूसरी धारा के अंतर्गत मध्यवर्गीय मानसिकता के साथ लिखी जाने वाली वे तमाम कहानियां आती हैं, जिन पर कहीं आदर्शवाद या सुधारवाद हावी है, कहीं रूपवाद या कलावाद हावी है, तो कहीं अनुभववाद और आधुनिकतावाद हावी है. संयोग ही है कि 'नयी कहानी' में ये दोनों धाराएं एक साथ चल सकीं, वरना इनके बीच अंतर्विरोध काफी गहरे थे और वह आंदोलन बिखरा भी इन्हीं प्रवृत्तियों के चलते जबकि प्रगतिशील यथार्थवाद कहानी और अनुभववादी-आधुनिकतावादी कहानी के बीच टकराव हुआ और दूसरी धारा के लेखकों ने पहली धारा के लेखकों को आंदोलन से काटकर अलग करने की कोशिश में आंदोलन को ही चौपट कर दिया.

भैरव प्रसाद गुप्त : जैसे...? कहानीकारों के नाम लें...

रमेश उपाध्याय : जैसे एक तरफ आप थे, मार्कण्डेय थे, शेखर जोशी थे... दूसरी तरफ राजेंद्र यादव थे, मोहन राकेश थे, कमलेश्वर थे....

महेश दर्पण : तो इसमें प्रगतिशील आंदोलन की भी तो कुछ कमी रही होगी ?

रमेश उपाध्याय : वह एक अलग सवाल है, जिसके बारे में भैरव दा अच्छी तरह बता सकते हैं. समूचा प्रगतिशील आंदोलन तो एक अलग स्तर पर बिखर चुका था. 'नयी कहानी' का प्रगतिशील आंदोलन इस तरह बिखरा की प्रगतिशील कहानीकारों को एक किनारे कर दिया गया. या उनको होना पड़ा. मुझ लगता है कि कुछ कमी प्रगतिशील कहानीकारों की तरफ से भी रही, और वह यह कि इन्होंने 'नयी कहानी' के नयेपन को अतर्वस्तु के स्तर पर कम और रूप के स्तर पर ज्यादा परिभाषित किया. उदाहरण के लिए मार्कण्डेय ने अज्ञेय, जैनेंद्र और यशपाल पर लिखते समय अपने इन अग्रजों की कहानियां की अंतर्वस्तु की भिन्नता पर जोर देकर उसे स्पष्ट करने की बजाए उनकी कथा-रचना की पद्धति की समानता पर ज्यादा जोर दिया और यह निष्कर्ष निकाला कि ये तीनों लेखक चूंकि एक 'आइडिया' सोचकर उसके अनुसार पात्र और परिस्थितियां गढ़कर कहानियां लिखते हैं, इसलिए इनकी कहानियां यथार्थवादी नहीं है, नयी नहीं है. इस दृष्टिकोण के चलते जाने-अनजाने यथार्थवादी की जगह अनुभववाद पर, रूपवाद पर, कलावाद पर जोर दिया जाने लगा. नयेपन को अंतर्वस्तु के नयेपन से जोड़कर देखने की बजाय अपने-आप में ही एक मूल्य माना जाने लगा. इसका नतीजा यह हुआ कि आधुनिकता की जग आधुनिकतवाद की प्रतिष्ठा होने लगी और अच्छी कहानी की जो कसौटियां सामने आयीं, उनपर प्रगतिशील यथार्थवादी धारा की कहानियों को कसकर आसानी से कृत्रिम, गढ़ी हुई, नकली, बनवाटी, फार्मूलाबद्ध या प्रचारात्मक कह कर खारिज किया जा सकता ाा. और यही हुआ भी. 'नयी कहानी' आंदोलन के प्रगतिशील कहानीकारों की तो बात ही क्या, इन कसौटियों पर प्रेमचंद भी पुराने और अप्रासंगित सिद्ध किये जाने लगे...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रदीप मांडव : इसका कोई प्रमाण ?

रमेश उपाध्याय : प्रमाण इससे बड़ा क्या होगा कि प्रेमचंद ने तीन सौ से ज्यादा कहानियां लिखी हैं. लेकिन उस दौर मे उनकी बाकी तमाम कहानियों को भुलाकर सिर्फ दो ही कहानियों–'कफन' और 'पूस की रात' की चर्चा होती थी, क्योंकि उस तथाकथित नयेपन की कसौटियों पर शायद प्रेमचंद की बाकी कहानियां खरी नहीं उतरती थीं. एक और प्रमाण लीजिए प्रेमचंद ने 'मंत्र' शीर्षक से दो कहानियां लिखी हैं. डाक्टर चड्डावाली 'मंत्र' कहानी की चर्चा तो कहीं-कहीं आपको मिल जायेगी, लेकिन चमारों वाली 'मंत्र' (मानसरोवर, भाग-5 पृष्ठः 44) की चर्चा कहीं नहीं मिलेगी.

महेश दर्पण : आपकी पीढ़ी ने इस चीज को समझा ?

रमेश उपाध्याय : बहुत बाद में और बहुत कम लोगों ने. ज्यादातर लोग तो आज भी इस चीज को नहीं समझ पा रहे हैं कि नयेपन के नाम पर लोगों को उनकी जीवंत परंपराओं से काट देना किसी देश की संस्कृति के खिलाफ की जानेवाली सबसे बड़ी साजिश है. 'नयी कहानी' का एक हिस्सा शायद अनजाने इस साजिश का शिकार है. लेकिन मुझे लगता है कि सातवें दशक में चले कुछ कहानी-आंदोलनों में व्यावसायिक तकाजों से ज्ञानबूझकर इस साजिश में शामिल हुए. 1963-64 के आसपास ज्यादातर लोगों की समझ यह थी कि नयापन ही अपने-आपमें सबसे बड़ा मूल्य है, इसलिए पुराना जो कुछ भी है उसे नकारो और अपना नयापन सिद्ध करो. चाहे वह ऊलजलूल कहानियां लिखकर हो या ऊलजलूल हरकतें करके ही क्यों न हो. लोग ऐसी कहानियां लिखते थे कि पाठक या तो उन्हें पढ़ ही न सके, या पढ़कर हमेशा के लिए नये लेखकों की कहानी पढ़ने से तौबा कर ले, पाठक या जनता के प्रति यह रवैया होगा तो साहित्य के सामाजिक उद्देश्य, प्रगति और परिवर्तन की तमाम बातें खुद ही घिसी-पिटी और बकवास लगने लगेंगी. जाहिर है, उस समय 'नयी कहानी' आंदोलन का वह उद्देश्य जो भैरवजी या दूसरे प्रगतिशील लेखकों का था, भुला दिया गया, उसकी निंदा की गयी, लेकिन यह याद रखा गया कि नये कहानीकार अज्ञेय-जैनेंद्र-यशपाल के खिलाफ आंदोलन चलाकर सामने आये थे, तो हम भी कोई आंदोलन चलाकर अपने से पहले के तमाम कथाकारों का विरोध करते हुए स्थापित हो सकते हैं. अकहानी, सचेतन कहानी, सोठत्तरी कहानी आदि के जो आंदोलन चले, उनमें ज्यादातर लेखकों की समझ यही थी और यह समझ शुद्ध व्यावसायिकता से प्रेरित थी. इसी समझ के साथ सारी साहित्यिक उठा-पटक की जाती थी. यह तो 1967 के आसपास जब जनवादी आंदोलन कुछ उभार पर आया तब कुछ लेखकों ने फिर से कहानी के नयेपन को अंर्तवस्तु से जोड़कर देखना शुरू किया और यथार्थवाद की परंपरा से अपने-आपको जोड़ने के लिए अपने अग्रज कथाकारों को आंख मूंदकर नकारने के बजाय उन्हें ध्यान से पढ़ना, समझना और उनकी उपलब्धियों तथा गलतियों से सीखना शुरू किया.

रमेश बत्तरा : अकहानी, साठोत्तरी कहानी, समांतर कहानी आदि आंदोलनों का परिप्रेक्ष्य आपका देखा-भाला है. शुरू की कहानियों पर कहीं इन सबका प्रभाव भी रहा, मगर आप धीरे-धीरे अपना रास्ता अलग से तय करते गये. वजह ?

रमेश उपाध्याय : बहुत व्यक्तिगत जवाब दूं तो वजह यह है कि मुझे दूसरे लोगों के साथ चलना, पक्षधर होना, सामूहिक संघर्ष करते हुए आगे बढ़ना तो अच्छा लगता है, मैं यह भी मानता हूं कि आंदोलन में आकर आदमी बहुत कुछ सीखता है, अपना विकास करता है, जो अलग-थलग रहकर नहीं किया जा सकता. लेकिन एक तो मुझे स्वार्थपरक गुटबंदी और कथनी-करनी के फर्क से नफरत है, दूसरे मुझे ऐसा भी लगता है कि रचना के स्तर पर रचनाकार नितांत अकेला होता है, उसे रास्ता खुद ही खोजना और तय करना होता है. हाथ में कलम लेकर जब आप कोरे कागज का सामना करते हैं तब कोई आंदोलन, कोई संगठन, कोई नेता, कोई मित्र, कोई सहायक, आपकी मदद नहीं कर सकता. खास तौर से जब आप कुछ नया करना चाहते हैं तब यह अकेलापन और भी बढ़ जाता है. ऐसी स्थिति में अगर आप किसी आंदोलन में शामिल होते हैं तो अपने ही साथ के लोगों से एक द्वंद्व की स्थिति पैदा हो जाती है. मैं अकहानी, साठोत्तरी कहानी आदि किसी आंदोलन में इसी वजह से शामिल नहीं हुआ. समांतर आंदोलन में शुरुआत के कुछ दिनों के लिए शामिल हुआ था लेकिन जल्दी ही उसकी कथनी और करनी का फर्क मेरे सामने स्पष्ट हो गया और मैंने उससे अपने-आपको अलग कर लिया.

महेश दर्पण : आज आप जनवादी आंदोलन के साथ सक्रिय हैं...

रमेश उपाध्याय : हूं.... और इसलिए कि यहां मेरा रचनाकार किसी तरह की बंदिशें महसूस नहीं करता. या यों कह लीजिए कि जनवादी आंदोलन के उद्देश्य और मेरे उद्देश्य एक हैं. दूसरी बहुत बड़ी बात यह है कि इस आंदोलन में साथियों के साथ मतभेद रखने और बहस चलाने की गुंजाइश है–मतभेद रहते हुए भी समान लक्ष्यों के लिए साथ-साथ काम करने की गुंजाइश है, क्योंकि यहां हम लोग कुछ पाने के लिए नहीं, बल्कि कुछ देने के लिए इकट्ठे हुए हैं.

रमेश बत्तरा : क्या जनवादी आंदोलन के तहत व्यावसायिक पत्रिकाओं में न छपने का कोई निर्णय लेखकों ने लिया है?

भैरव प्रसाद गुप्त : नहीं, यह प्रत्येक लेखक का व्यक्तिगत फैसला है कि वह इनमें छपे या न छपे.

प्रदीप मांडव : आपकी क्या राय है?

भैरव प्रसाद गुप्त : अगर ये पत्रिकाएं हमारी रचनाएं छापती हैं तो हमें छपना चाहिए.

महेश दर्पण : उपाध्याय जी, आपने व्यावसायिक पत्रिकाओं में न छपने का फैसला क्या सोचकर किया...?

रमेश उपाध्याय : यह फैसला मुझे तब लेना पड़ा जब मैं जनवादी आंदोलन की तरफ आया और मेरी रचनाओं में जो परिवर्तन आया वह व्यवसायिक पत्रिकाओं को स्वीकार्य नहीं हुआ.... रचनाएं लौटने लगीं... ऐसे खतों के साथ कि ऐसी नहीं वैसी रचना भेजो. इसलिए लगा कि डिमांड पर लिखने से बेहतर है कि इन पत्रिकाओं में छपा ही न जाये. वैसे, यह मेरा कोई अटल फैसला नहीं है, अगर कोई व्यावसायिक पत्रिका मेरी रचना को मेरी शर्तों पर छापने को तैयार हो.

रमेश बत्तरा : उपाध्यायजी, कई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचकों का आप पर यह आरोप है कि आपकी कहानियां विचारधारा का यांत्रिक स्वरूप बन गयी हैं. इसके बारे में कुछ कहना चाहेंगे ?

रमेश उपाध्याय : देखना चाहिए कि उन आलोचकों की कसौटियां क्या हैं. उनकी कसौटियों का पता इससे चल जायेगा कि वे कैसी कहानियां पसंद करते हैं. मसलन जो लोग प्रेमचंद की सिर्फ 'कफन' पसंद करते हैं, उनकी एक कसौटी है, जिस पर प्रेमचंद की बाकी कहानियां खरी नहीं उतरतीं. या नामवर सिंह अगर चेखव की कहानी 'दुख' को मॉडल की तरह सामने रखते हैं और कहानी को 'अकेली चीख' मानते हैं तो उनकी भी एक कसौटी है, जिसपर कहानी को 'अंधेरे में चीख' बताने वाले ही खरे उतर सकते हैं, भैवरजी की कहानियां उस कसौटी पर एक एकदम खारिज हो जायेंगी. हालांकि इधर कुछ जनवादी आलोचकों ने कहानी पर गंभीरता से लिखना शुरू किया है, लेकिन आमतौर पर हिंदी में कहानी-समीक्षा की स्थिति दरिद्र और दयनीय है. ज्यादातर कहानी-समीक्षाएं सिर्फ यह बता पाती हैं कि अमुक-अमुक आलोचक की निजी पसंद क्या है. और यह निजी पसंद भी व्यावसायिकता या दोस्ती-दुश्मनी के तकाजों से समय-समय पर बदलती रहती है. अपनी कहानियों के बारे में मैं खुद क्या कहूं, जैसी हैं, पाठकों के सामने हैं, और पाठकों की तरफ से मुझे कभी निराशा नहीं हुई. निराश मैं आलोचकों की तरफ से भी नहीं हूं. क्योंकि मुझे पता है कि मेरी कहानियां उन्हें पसंद भले ही न आती हों, पर उन्हें कोंचती हैं, परेशान करती हैं और मुखालफत के लिए मजबूर करती हैं.

रमेश बत्तरा : पिछले कुछ वर्षों से आप 'कथन' का संपादन भी कर रहे हैं. क्या संपादक के रूप में आपके लेखक को भी कोई योगदान मिला है ?

रमेश उपाध्याय : मिला है. 'कथन' को जिस तरह व्यापक लेखक-पाठक समुदाय ने पसंद किया, अपनाया, सहयोग दिया, उससे मेरे आत्मविश्वास की पुष्टि हुई. मैंने यह पाया कि जनवादी लेखन का मेरा परिप्रेक्ष्य सही है. रचनाकार के रूप में मुझे यह भी मालूम हुआ कि आज पाठकों को कैसी रचना तथा आलोचना की जरूरत है. उस जरूरत को पूरा करने की कोशिश में तरह-तरह के अनुभव हुए. जनवादी साहित्य की बहुत-सी समस्याएं मेरे सामने स्पष्ट हुईं जो पहले स्पष्ट नहीं थीं.

महेश दर्पण : एक कहानीकार के नाते आपसे यह अपेक्षा की जा सकती थी कि 'कथन' को आप कहानी-पत्रिका बनायेंगे, लेकिन उसमें आपने सभी विधाओं को रखा और साहित्येतर लेखन को भी स्थान दिया. इसकी वजह ?

रमेश उपाध्याय : मैं यह मानता हूं कि कहानी ही क्या, कोई भी विधा आज अलग-थलग अपने ही दायरे में बंद रहकर विकसित नहीं हो सकती. और हमें यथार्थवादी रचनाशीलता को आगे बढ़ाना है तो साहित्य की समस्त विधाओं को समझना पड़ेगा और इससे भी ज्यादा जरूरी बात है कि हमें विज्ञान और समाज-विज्ञानों के क्षेत्रों में जो कुछ हो रहा है, उसको भी जानना-समझना पड़ेगा.

"आठवें दशक के ज्यादातर लेखक भाषा के मामले में लापरवाह हैं. भाषा पर यदि आपकी पकड़ सही नहीं है तो आप यथार्थ को सही-सही नहीं पकड़ सकते और अच्छी कहानी नहीं लिख सकते."

रमेश बत्तरा : आप आठवें दशक में उभरकर आये लेखक से भी भली-भांति परिचित हैं. उनमें आपको क्या खूबियां और खामियां नजर आती हैं ?

रमेश उपाध्याय : खूबी यह है कि आठवें दशक के जितने भी महत्वपूर्ण कहानीकार हैं, वे सब वैचारिक स्तर पर किसी रूप में जनवादी आंदोलन के साथ हैं, भले ही कुछ मुद्दों पर उनमें आपसी असहमतियां या मतभेद हों, और रचना के स्तर पर सभी कमोबेश यथार्थवादी हैं. खामी यह नजर आती है—और मुझे लगता है कि यह खामी कई अच्छे लेखकों को ले डूबेगी—कि कई लेखकों पर व्यावसायिकता और उसके तहत अपनायी जाने वाली सेल्फ-सेंसरशिप हावी है, जिसके अपराधबोध को वे कलावादी सिद्धांतों की आड़ में छिपाना चाहते हैं और जिसके चलते वे जनवादी आंदोलन का विरोध करने की स्थिति तक में पहुंच जाते हैं. मुझे लगता है कि यह रास्ता फिसलन भरा और आत्मघाती है. एक खामी मुझे यह भी नजर आती है—जिसका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे 'कथन' के संपादन के दौरान हुआ है—कि ज्यादातर लेखक भाषा के मामले में लापरवाह हैं. भाषा पर यदि आपकी पकड़ सही नहीं है तो आप यथार्थ को भी सही-सही नहीं पकड़ सकते और अच्छी कहानी नहीं लिख सकते.

रमेश बत्तरा : काजी साहब, अब आप उर्दू कहानी के सफर पर रोशनी डालिए कि इसमें नया दौर कब शुरू हुआ ?

प्रदीप मांडव : हमारे यहां जब आठवां दशक शुरू हुआ तो उर्दू में 'नयी कहानी' जैसा आंदोलन शुरू हुआ था.

काजी अब्दुस्सत्तार : वैसे आप यूं कह सकते हैं कि 'जदीद' को जो लफ्ज पहले-पहल इस्तेमाल हुआ वह सन् 1869 के आसपास का वक्त था. गदर के वक्त तक जो अदब था वो पुराना अदब था. और गदर के बाद हाली मुहम्मद हुसैन आजाद और सर सैयद के असर से एक नयी तहरीक चली जिसमें शायरी की मुखालफत की गयी... और पुरानी शायरी की तो कतई मुखालफत की गयी. और कहा गया कि हमें अपने प्रोज को तंदरुस्त करना चाहिए. इसमें मुहब्बत की दास्तानों के अलावा कुछ भी नहीं है. प्रोज सारी जिंदगी का रिप्रेजेंटेटिव होना चाहिए. इस मानी में जदीद का लफ्ज इस्तेमाल किया गया था. 'अंगारे' किताब बहुत बाद में छपती है करीब-करीब सन् 1933 के और तरक्की पसंद तहरीक का वजूद आता है सन् 1936 में. और इसमें एक पूरी पीढ़ी, एक पूरी नस्ल अफानानिगारों की आयी और यह भी बहुत इंपोर्टेंट बात है कि तरक्की पसंद तहरीक ने जितना उर्दू अफसाने को मुतासिर किया उतना उर्दू शायरी को नहीं.

रमेश बत्तरा : प्रेमचंद ने उर्दू अफसाने की जो तरक्कीपसंद भूमिका तैयार की उसके तहत आप अपने-आप को कहां खड़ा पाते हैं ?

काजी अब्दुस्सत्तार : मैंने जब लिखना शुरू किया, उस वक्त मेरे पास जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिक्शन था.... देहात के मुतालिक, उसमें दो तबके थे–जमींदार और किसान. जमींदार जालिम, किसान मजलूम. मगर मैंने होश संभाला तो जो जमींदार था वह मजलूम हो चुका था... अवध के इलाके में मुसलमान खुसूसन भंगी हो चुका था... किसी के पास पैसा था तो वह पाकिस्तान जा चुका था. जमींदार के नाम पर जो तबका था वह भूखा हो चुका था. ऐसे भी जमींदार हमने देखे जिनके पास शाम की रोटी नहीं थी. उसका सबब यह था कि हिंदू जमींदार की जमीन हिंदू काश्तकार जबरन नहीं जोत पाये जबकि मुस्लिम जमींदार की जमीन को मुस्लिम और हिंदू दोनों काश्तकारों ने जबरन जोत लिया...

भैरव प्रसाद गुप्त : बेदखल कर दिया....

काजी अब्दुस्सत्तार : मुझे लिखने के लिए इस बात ने उकसाया कि प्रेमचंद का जो नॉवल है उससे सिचुएशन बिल्कुल उलट चुकी थी.... ताकत और पैसा उस किसान के पास आ गये जो तरक्की पसंद तहरीक में मजलूम था और मजलूम की फेहरिस्त में वह आदमी आ गया जो जाबिर और ताकतवार था. फिक्शन में मैंने सबसे पहला नॉवल और अफसाना लिखा है जो इस सिचुएशन पर है.

रमेश बत्तरा : यह बात तो बहस का विषय हो सकती है और जिस पर हम बंटवारे के जमाने से उबरकर सन् 84 में आ पहुंचे हैं.

काजी अब्दुस्सत्तार : हां, अब हालत बदली हैं.

रमेश बत्तरा : प्रदीप, काजी साहब ने अभी जिस गांव के ढांचे का बयान किया है वह खासा चौंकाऊ है... क्या तुम इससे सहमत हो ?

प्रदीप मांडव : मेरे सामने जब गांव का ढांचा आता है तो सिवाय ऐतिहासिक विकासक्रम से यथार्थ के बदले स्वरूप के अलावा प्रेमचंद के यथार्थ से कोई फर्क नहीं लगता. अंग्रेजी शासन ने हमें जो अर्थतंत्र दिया था अर्थात औपनैवेशिक सामाजिक आर्थिक ढांचा–उसमें किसान सदैव शोषण का शिकार रहा और जमींदार या कि बड़े किसान, यहां तक कि आजादी के बाद भी सत्ता में रहे. इसलिए काजी साहब का यह यथार्थ चंद मुसलमानों का या किसी एक खानदान का ही हो सकता है...

रमेश बत्तरा : काजी साहब, आपकी पीढ़ी ने तो बंटवारे का संताप भी झेला है जो कि प्रेमचंद के हिस्से में नहीं आया. इसके बावजूद क्या वजह रही कि उस जमाने से बेहतर अफसाना नहीं आया ?

काजी अब्दुस्सत्तार : उसका सबब यह है कि प्रेमचंद से बड़े आर्टिस्ट नहीं हैं. यह बात ईमानदारी से मान लेनी चाहिए. हम अपनी 'ईगो' में यह समझते हैं कि हम प्रेमचंद और मंटो से बेहतर हैं. मगर सिर्फ मौजूं, सूरतेहाल और चेतना अफसानां नहीं लिखवाती. उसी माहौल पर एक बड़ा अफसानानिगार एक बड़ी कहानी लिखता है और उसी माहौल को बहुत करीब से देखनेवाला छोटी कहानी लिखता है...

यह तो सवाल है आर्टिस्ट की क्रियेटिक एबिलिटी के कम या ज्यादा होने का.

प्रदीप मांडव : इसी मनोवृत्ति के चलते आलोचना की क्रियेटीविटी भी खत्म हो गयी है, आलोचक रचना के साथ यात्रा ही नहीं करना चाहता... यही कारण है कि आलोचना जिससे लेखन का प्रसार होता है, अब उलटा असर कर रही है, कभी-कभी यकायक कोई ऐसा उछाल दिया जाता है और इतना उछाल दिया जाता है कि वह बेचारा कहीं का नहीं रहता. एक और भी मनोवृत्ति होती है तिकड़म भरी इसके पीछे, जो बहुत ही घातक है. एक जमाने में, तुम्हें याद होगा काशी नाथ सिंह की कहानी 'सुधीर घोषाल' को बड़ा उछाला गया था कुछ लोगों द्वारा... फिर उन्हीं लोगों द्वारा इसे जासूसी ताना-बाना और उसे अर्थहीन बताया गया. रमेश उपाध्याय की रचनात्मक को ही लें, इनकी भी खूब तारीफें की गयीं और बाद में उन्हीं लोगों ने इनको सपाट और गढ़ी हुई कहानियों का लेखक कहा.

महेश दर्पण : क्या वजह है कि हमारे आज के आलोचक भी जब गांव की कहानी की बात करते हैं तो उनके जहन में न गांव की तस्वीर होती है न ही कहानी की!

रमेश बत्तरा : यह स्थिति आलोचकों की ही नहीं, लेखकों की भी है. जिन लोगों का गांव से सिर्फ इतना ही नाता है कि वे वहां पैदा हुए थे, प्रायः स्वयं को 'ग्रामीण-कथा-विशेषज्ञ' घोषित कर बैठते हैं.... दूसरी तरफ कथा-साहित्य को शहर, मजदूर और किसान की कहानियों में विभाजित करके अलग-थलग मयार तैयार किये जा रहे हैं. लगता है, क्या आलोचक और क्या लेखक, अधिकतर 'व्यक्तिगत सच' में यकीन करने लगे हैं, 'सामूहिक सच्चाई' में नहीं. वैसे भी अब आलोचना की परंपरा प्रायः समाप्त होती जा रही है.

महेश दर्पण : भैरव दा, क्या वजह है कि अब तक विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध कथाकारों पर हमारे यहां सपोर्टिंग इतनी नहीं हुई जितनी कि अन्य रचनाकारों पर...?

भैरव प्रसाद गुप्त : बात उन दिनों की है जब गोर्की ने मदर पूरा करने के बाद लेनिन से उनकी राय जाननी चाही थी. पांडुलिपि भेजे हुए एक महीना बीता, पर लेनिन ने कोई जवाब नहीं दिया यह वह समय था जब लेनिन ताल्सतोय पर बराबर लिख रहे थे. चार-पांच महीने बाद कहीं जाकर गोर्की और लेनिन की मुलाकात हुई... वह भी अजीबो-गरीब माहौल में. अंडरग्राउंड मीटिंग के दौरान गिरजे के खंडहर में गोर्की एकाएक अस्वस्थ हो गये लेनिन को गोर्की की अस्वस्थता का पता लगा तो वे तुरंत कमरे में गये और गोर्की के आराम के लिए ठीक-ठाक इंतजाम करने को कहा. लेनिन गोर्की के स्वास्थ्य के प्रति चिंतित थे जबकि गोर्की के दिमाग में रह-रहकर यही उभर रहा था कि पता नहीं लेनिन ने मेरा उपन्यास अभी पढ़ा भी है या नहीं. लेनिन के लौटते-लौटते गोर्की ने अपने उपन्यास के बारे में पूछ ही लिया. लेनिन का जवाब बड़ा सधा हुआ था, "इसे फौरन छपवाकर मजदूरों में बंटवा दिया जाना चाहिए!" .... यानी गोर्की एक ऐसे दृष्टिसंपन्न रचनाकार थे जिन्हें आलोचक की गाइडेंस की उतनी जरूरत नहीं थी जितनी अपेक्षाकृत कमजोर रचनाकार को हो सकती है. अब कोई कहे कि साहब हम पर क्यों नहीं लिखा, उस पर लिख दिया... तो इसका जवाब यही है कि जागरूक और दृष्टिसंपन्न रचनाकार को उसके लेखन के बल पर जाना जाता है जबकि कमजोर रचनाकार को सही दिशा पाने के लिए आलोचक की जरूरत होती है. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौम

• मंजूर एहतेशाम

आपके सोचने और जिंदा रहने में कितना फर्क है?... शादी दो दिलों में होती है या जिस्मों में?... गृहस्थी दो इंसानों की नैतिकता है या धर्म की पाबंदियों का तकाजा?—एक राष्ट्र और एक कौम जैसी देशव्यापी जरूरत के तहत एक 'हिंदू' लड़के और 'मुस्लिम' लड़की के प्यार और निकाह की कहानी में मानवीय जज्बात को टटोलती मार्मिक कहानी—

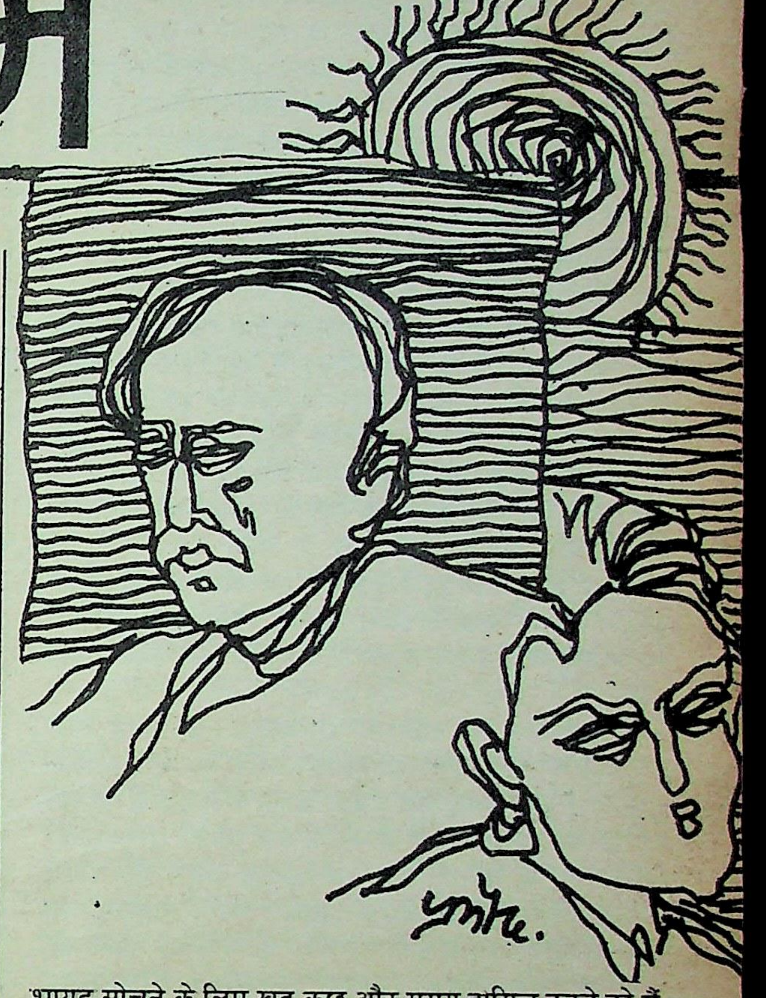

तब तक यह अंदाजा कि मैं गलत फस गया हूं, बहुत अच्छी तरह हो चला था.

"आप भी अगर यूं सोचेंगे," सामने बैठी फरीदा दुपट्टे की कोर अपने हाथ की उंगलियों में लपेटते गमगीन और कुछ-कुछ मायूसी में डूबे लहजे में कह रही थी, "तब तो फिर किसी से भी कुछ उम्मीद रखना बेकार है. अब्बा, अम्मा और दूसरे तमाम खानदानवाले...." अपना जुम्ला उसने पूरा नहीं किया.

खामोशी उभर आयी और मेरे अंदर 'क्या कहना चाहिए' और 'क्या कहना चाहता हूं' के बीच फिर रस्साकशी शुरू हो गयी. मैं जानता था कि वह बड़े विश्वास और बड़ी उम्मीद के साथ मेरे पास आयी थी और मैं उससे यूं टाल-मटोली में बातचीत कर रहा था. उसके आने से पल भर पहले भी अगर मुझे इस समस्या का आभास हो जाता तो शायद मैं खुद को कुछ तैयार कर लेता. हुआ कुछ यूं कि मैं बिल्कुल अचानक ही पकड़ा गया और अगर ईमानदारी से कहूं तो अभी मैं यह फैसला नहीं कर पाया था कि सिच्वेशन फिक्शन की किसी कलाकृति से उठायी हुई थी या उसका संबंध यथार्थ और सीधा-सीधा जीते-जागते लोगों से था. इसी दुविधा में फंसा मैं फरीदा के सामने यूं मुँह बनाये बैठा था.

"क्या ऐसा हो पायेगा!" आप ही आप में बुदबुदाया.

"सलीम भाई, माफ कीजिए", फरीदा के लहजे में मायूसी अपनी जगह थी, "क्या आपके सोचने और जिंदा रहने में भी इतना फर्क है? मैं तो आपको बाकी तमाम लोगों से कहीं ज्यादा ईमानदार और खुले जेहन का समझती थी."

"मैंने ऐसा कुछ कहा, जिससे तुम्हारी राय बदले?"

"कहते तो फिर भी शायद सब्र आ जाता!" लहजे की कड़वाहट भरपूर थी, "यह हैरानी और टालने का अंदाज तो कहीं ज्यादा तकलीफदेह है."

"न मैं हैरान हूं, न बात टाल रहा हूं", उसे बताने से ज्यादा शायद सोचने के लिए खुद कुछ और समय हासिल करने को मैं जम्हाई लेते हुए बड़बड़ाया, "दरअसल, मुझे दो दिन पहले ही एक पुराने दोस्त से हुई मुलाकात याद आ गयी. जो अपने-आप में मीठी नहीं है."

मैं चुप हो गया था और वह सवालियां नजरों से मेरी तरफ देख रही थी.

"तुम भी मेरे हवाले या किसी और तरह उसे या उसकी बीवी को जानती होगी", ऐनक उतारकर रूमाल से शीशा साफ करते हुए मैंने कहा, "दो दिन पहले दो मुसलमान लड़कों की सिफारिश लेकर मेरे पास आया था, इस दर्द और शिकवे के साथ कि आज मुल्क में मुसलमानों को पूछता कौन है. मैं खुद मुसलमान होने के नाते उसके लिए कुछ न कुछ करूं."

फरीदा की नजरों से मैं अंदाजा लगा सकता था कि वह दोस्त को पहचान नहीं पायी. "मैं," कुछ रुककर मैंने कहा, "बासित की बात कर रहा हूं ...पहचानीं?"

वह पहचान गयी. उसने सिर्फ गर्दन हिलाकर कहा था और अजीब नजरों से मुझे घूरती हुई बैठी थी.

"यह भी होता है," सीधे अपना मतलब बयान करने के बजाय मैंने खुद को हल्की निशानदेही तक ही सीमित रखा, "और आज से छह साल पहले यही बासित था जिसने अपने खानदान तक से ताल्लुकात तोड़ लिये थे. यह भी होता है."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"आखिर आप साबित क्या करना चाहते हैं?" फरीदा की आवाज में मेरी अक्ल के प्रति उदासीनता और सारे मुद्दे को लेकर थकन पैदा हो चुकी थी.

"समझदार और खुले दिमाग का तो मैं बासित और पद्मा को भी समझता था. शादी करते वक्त अपने-अपने खानदानों से दुश्मनी मोल लेते हुए कुछ न कुछ आदर्श, असूल तो उनके भी रहे होंगे. फिर छह साल और दो बच्चों के बाद दोनों के बीच एकदम इस्लाम कहां से आ गया!"

"पूछा नहीं आपने?" लाख बहादुर बनने की कोशिश के बाद भी फरीदा की आवाज सहमी हुई थी.

"पूछता क्या!" मैंने कुछ झुंझलाहट से कहा. "बताने को नया क्या होगा? किसी दूसरे दोस्त ने पूछ लिया तो गठरी खोलकर बैठ गये—उन्हीं चीथड़ों की जिन पर शादी से पहले थू-थू करते थे! छह साल में लगता है उस गठरी के अलावा कुछ हाथ ही नहीं आया. बच्चों को कलमा सिखाने, कुरान पढ़ाने से लेकर कब्र और मौत के बाद की जिंदगी... सब सताने लगे. ऐसों से क्या पूछना."

"शुक्र है!" फरीदा ने एक लंबी सांस खींचकर छोड़ते हुए कहा, "आपने कुछ तो दिल बढ़ाया. ऐसे बुजदिलों और कम-अक्लों की हम बात ही क्यों करें. मुझे तो आप बुजदिल नहीं समझते?"

मैं खामोश बैठा कंडीशनर की गुनगुन सुन रहा था. लाख चाहते हुए भी फरीदा से सीधा-सीधा यह नहीं कह पा रहा था कि बुजदिल तो एक समय, जब दुनिया-जहान के विरोध के बावजूद बासित और पद्मा ने शादी की थी, मैं उन्हें भी नहीं समझता था. न केवल इतना, वह दोनों तो मुझे हिम्मत-हौसले की मिसाल और आनेवाली पीढ़ी के लिए एक आदर्श लगे थे. दोनों को पास से जानते हुए मैं उन्हें मूर्ख या कमअक्ल भी नहीं कह सकता था.

"मैं तो सिर्फ यह कह रहा था," उसका सवाल नजरअंदाज करते हुए, फरीदा की आंखों में अपलक देखते मैंने दोहराया, "कि यूं भी होता है."

"लेकिन मैं बुजदिल नहीं हूं सलीम भाई," अपने एक-एक शब्द पर जोर देकर, मुठ्ठी हल्के-से मेज पर मारते हुए फरीदा बोली, "और," एक क्षण को वह रुकी, "और न वह."

"कौन?" मैंने मासूम बनने का नाटक किया.

"सलीम भाई!" मेरे अंदाज को मजाक समझकर उसने इठलाते हुए हंस-कर कहा, "आपको इस वक्त भी मजाक सूझ रहा है. भैया मेरे लिए, खुदा के लिए, थोड़ी देर को संजीदा हो जाइए."

"तुम्हें मालूम है," मेरी आवाज खुद-ब-खुद संजीदा और भारी हो आयी, "बासित और पद्मा की शादी में मैं सबसे आगे-आगे था. अगर कोर्ट-मेरिजेज में भी कोई निकाही-बाप हुआ करता तो मैं उन लोगों का निकाही-बाप ही कहलाता और अब तुम अंदाजा करो जो सूरतेहाल उन दोनों के बीच आजकल है: पद्मा मुसलसल बीमार रहती है, छह साल पहले की पद्मा कितनी सेहतमंद, जिंदादिल, हिम्मत-हौसले वाली लड़की थी, कोई सोच भी नहीं सकता और बासित! लगता है एकदम पागल ही हो गया. उसके घरवाले 'मुसलमान' एक बहुत ही फंक्शनल सेंस में रहे हैं: नमाज-रोजा तक जिंदगी में शायद ही कभी किया हो. लेकिन यह बासित तो पहले इनकलाबी हुआ और उसके फौरन बाद ही मोमिन हो गया! शायद हिंदुस्तान में भी 'निजामे-मुस्तफा' टाइप की किसी चीज की तमन्ना करता होगा! मुझे उससे कोई हमदर्दी नहीं, लेकिन दिमाग यह सोचने पर मजबूर जरूर होता है कि ऐसा क्यों हुआ."

"लगता है!" फरीदा के लहजे में खीज थी, "लेकिन मैं आपके पास यह सब अंदेशे सुनने के लिए नहीं आयी. मैं और अनिल शादी करना चाहते हैं, इस बात में असूलन क्या आपको कुछ गलत लगता है? लगता है तो दो-टूक कह दीजिए कि आप हमारी कोई मदद नहीं कर सकते. अगर ऐतराज नहीं है तो प्लीज! सलीम भाई, खुदा के लिए यूं इम्तिहान लेने के बजाय हम दोनों की मदद कीजिए."

मुझे 'हम दोनों' का इस्तेमाल खटक रहा था. जिस लड़के को मैंने देखा तक नहीं था उसके लिए दिल में एकदम कोई अपनाईयत पैदा कर पाना मेरे लिए संभव नहीं था.

"फर्ज करो", मैंने बहुत बुर्दबारी से टेबिल पर रखे पेपर-वेट को उलटते-पलटते कहा; "फर्ज करो मैं इनकार कर दूं?"

फरीदा को हक्का-बक्का होते मैं देख रहा था. जैसे कोई अनहोनी उसके सामने हो गयी हो.

"फर्ज करो", मैंने आवाज की मुलाइमत बरकरार रखते हुए जोड़ा, "मैं मदद करने से इनकार कर दूं और इस शादी के खिलाफ हो जाऊं... तो क्या होगा?"

"यह शादी तो होगी सलीम भाई!" फरीदा धीरे-धीरे जैसे अपने आपे में आते हुए मेरी आंखों में सीधे देखते बोली थी, "चलिए!" जबान तालू से लगाकर पछतावे के 'तच्' की आवाज निकालते हुए उसने बहुत कड़वे लहजे में कहा, "एक गलत फहमी और दूर हुई. शायद सब ही अंदर से कुछ होते हैं, नजर कुछ और आते हैं."

फरीदा दिल का गुबार निकाल रही थी, मैं चुप बैठा सुन रहा था. जब एकदम कुर्सी खिसकाकर वह जाने को उठी तो मैंने थोड़ी सख्ती और नाराजगी से 'बैठ जाओ' कहते हुए टेबल की दराज से लिफाफा निकालकर उसके सामने खिसका दिया. "देखो इसे" अपनी नजर दूसरी दिशा में फेरते हुए मैंने कहा. एक पल को बगावत और झिझक के मिलेजुले असरात उसके चेहरे पर आये फिर टेबल से उठाकर वह लिफाफा खोलने लगी.

"इसका मतलब?" लिफाफे से निकली तस्वीर को मेरी ओर करते हुए उसने पूछा. तस्वीर एक जवान लड़के की थी.

"यह नईम है," मैंने आंखें मिलाये बिना धीरे-धीरे कहा, "इंजीनियर है. बंबई में नौकरी करता है. कोई चार हजार के करीब माहाना तनख्वाह, फ्लैट, कार सब हैं. मां-बाप नहीं हैं."

"मैं समझी नहीं."

"मेरी पहचान का है और पिछली बार जब शहर आया था तो तुम्हें भी देख चुका है. शायद तुमने भी उसे देखा हो."

"मुझे याद नहीं". फरीदा ने उलझते हुए तस्वीर पर एक नजर दौड़ाई, "और देखा भी हो... तो?"

"दरअसल", मैंने ठहर-ठहर कर अपनी बात में वजन पैदा करने की कोशिश करते हुए कहा, "मैं तुम्हारे यहां आने ही वाला था. अब्बा, अम्मा से मिलने: नईम ने तुम्हें देखा, तुम उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेरा तुझको अर्पण

■ लक्ष्मीनारायण वशिष्ठ

छोटे कद के मोटे शर्माजी कोर्ट में क्लर्की करते थे. उनके ललाट पर चंदन ऐसे सुशोभित होता था जैसे फुटबाल कीचड़ में फच्च से गिर गयी हो. सुबह, दोपहर, शाम—जब भी आफिस से लौटते, भगवान की आरती करते और एक ही पंक्ति ऊंचे स्वर में बार-बार गाते—'तेरा तुझको अर्पण क्या लागे मेरा... जय जगदीश हरे.'

आज भी भरी दुपहरी में कई बार जब उनकी यह पंक्ति सुनी तो हम से न रहा गया. हमने जिज्ञासा प्रकट की तो उन्होंने पहुंचे हुए दार्शनिक की मुद्रा में मुस्कराते हुए रहस्य उगला, "श्रीमान, मैं जब भी ऑफिस से लौटता हूं, 'कुछ' लेकर ही लौटता हूं... इसलिए 'उसे' सबसे पहले भगवान को अर्पण कर देता हूं. भगवान को अर्पण करने से 'उसमें' शुद्धता आ जाती है."

हम उनके इस अद्भुत दर्शन पर मुग्ध थे. वे पुनः गाने लगे... 'तेरा तुझको अर्पण...' □

अच्छी लगीं और वह चाहता है मैं इस सिलसिले में बातचीत शुरू करूं. आज ही फोन पर बंबई बात हुई तो पूछ रहा था मामला कहां तक पहुंचा है."

फरीदा खामोश बैठी मुझे तक रही थी. कुछ वैसा ही भाव था उसका जैसे कोई पालतू जानवर अपने ही मालिक के हाथों चोट खा बैठे.

"बहुत अच्छा लड़का, अच्छी नौकरी और सास-सुसर के झंझट से पाक. बहुत खुशनसीब लड़की होगी जिसे नईम-सा शौहर मिले."

"मिलिए आप अम्मा-अब्बा से," बहुत धीमी आवाज में उसने कहा, "हमदर्द हैं, आपसे यही उम्मीद की जा सकती है!"

"तुमने", मैंने फौरन ही वार करते हुए कहा, "यह भी सोचा कि तुम्हारी जात के अलावा तुम्हारी और तुम्हारे प्रिंस-चार्मिंग... क्या नाम बताया था? सुनील? नहीं, नहीं, अनिल की शादी का असर बाकी लोगों और खानदान पर क्या पड़ेगा?"

"क्या और कैसा खानदान?" फरीदा नाराजगी से बोली, "खानदान वाले जब कुछ करते हैं तो सोचते हैं उसका असर हम पर क्या पड़ेगा? किसी उलझन, परेशानी या मजबूरी में कोई खानदानवाला आज तक काम आया है? हां, जब नाम रखने या उंगली उठाने का मौका होता है, तब जरूर होते हैं खानदानवाले सबसे आगे!"

"मौत-मय्यत में तो यही लोग साथ होते हैं."

"होते होंगे. मुझे अपनी जिंदगी की ज्यादा परवाह है."

"दूर के रिश्तेदारों को छोड़ो. तुमने अपने घरवालों के बारे में भी सोचा..., अम्मा-अब्बा?"

"सोचा है!" उसने बहुत कड़वाहट के साथ कहा. "और इसीलिए आपके पास आयी थी कि अगर आपने थोड़ा साथ दे दिया तो बहुत सी चीजें आसान जायेंगी. अब्बा और अम्मा दोनों ही आपकी बात सुनते और मानते हैं."

"और बाक़ी घरवाले?

"मेरे अनिल से शादी करने पर मेरी बहनों को क्या ऐतराज हो सकता है! वे भी अनिल को जानती और पसंद करती हैं."

"क्या तुम्हें यह भी एहसास नहीं कि तुम घर की सबसे बड़ी बेटी हो? तुमने यह भी सोचा कि इस मनमानी शादी का असर बहनों की जिंदगी पर क्या पड़ेगा?"

फरीदा का फक़ होता चेहरा मेरे सामने था.

"नहीं सोचा तो मैं बताता हूं. मनमानी करके जो होगा उसके नतीजे के लिए तुम खुद को तो तैयार कर सकती हो और किस्मत ने साथ दिया तो हो सकता है अपनी जिंदगी भी कामयाबी के साथ गुजार ले जाओ. मसला बनेंगी तुम्हारी होनेवाली औलादें. यह तो हुई बाद की बात. शादी के फौरन बाद क्या होगा, यह भी सोचते चलें. बहुत मुमकिन है अम्मा, अब्बा तुम्हारी मुहब्बत की खातिर इस शादी की इजाजत दे ही दें. नहीं भी तो क्या, तुम्हें ज्यादा से ज्यादा 'आख' ही तो करेंगे. जीते जी तुम्हारी सूरत नहीं देखेंगे. तो यह भी गवारा. वह लोग अपनी जिंदगी लगभग जी चुके, बरस-दस बरस और जीते जी तुम्हें कोसेंगे और अपने रास्ते जायेंगे. छोटी बहनों का क्या बनेगा? तुम किसी मालदार घराने की भी नहीं कि लोग पैसों की खातिर या जो खानदान के नाम पर बट्टा कहलायेगा, नजरअंदाज करते हुए छोटी बहनों के लिए रिश्ता भेजें. कम से कम अच्छे या तुम्हारे बराबर के खानदानवाले तो हर्गिज नहीं भेजेंगे. नतीजा? क्या उन्हें भी तुम जैसे, जैसा तुम कहती हो 'आइडियलिस्ट और सेक्यूलिर दिमाग' के लोग मिल पायेंगे या वह अपनी जात और बिरादारी में अपने से बहुत कमतर लोगों के साथ ही जिंदगी बिताने पर मजबूर होंगी?"

फरीदा पत्थर बनी सुन रही थी. उसकी आंखों में आंसू भर आये थे जो कभी भी बह सकते थे.

"और," कुछ पल के बाद मैंने फिर ठंडी सांस लेकर कहा, "दूसरी सब से बड़ी बदकिस्मती यह है कि घर में कोई लड़का नहीं, अगर कोई लड़का होता तो भी शायद सूरते-हाल इतनी संजीदा होती..."

मैं आगे क्या बोलता, फरीदा फूट-फूटकर हिचकियों से रोने लगी और मैं खामोश बैठा पेपरवेट उलटता-पलटता रह गया. मुझे इस तूफान की आमद का बहुत खूब अंदाजा था. इसलिए कहीं अपने में ही दुबका इसके बीतने का इंतजार करता रहा. गुबार से गंदलाया आसमान हवा के साथ बहते पानी में घुलकर पाक-साफ होते मैंने बारहा देखा है. किस खूबी से इसके बाद साफ उजली धूप निकलती है. कैसे धुली और बेशिकन आसमानी चादर सिर के ऊपर तन जाती है. कब यह आसमानी गंदलाते झोंके चलना बंद होंगे. कब हम बिना खौफो-खतरे अपनी मनचाही जिंदगियां जी पायेंगे?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फरीदा मेरी सगी बहन नहीं थी और यूं देखा जाये तो उसका मुझसे कुछ भी पैदाइशी रिश्ता नहीं था—सिवाय इसके कि हम दोनों मुसलमान थे. उसके मां-बाप और बाकी बहनें भी मेरा खासा खयाल करते थे क्योंकि फरीदा ने एक दिन जब उसकी उम्र मुश्किल से दस-ग्यारह साल रही होगी, मुझे भाई बनाया था. यह रिश्ता काफी मजबूत साबित हुआ और अब मैं चाहे हफ्तों उसके घर न जाऊं, यह यकीन जरूर रहता था कि घरवाले कोई भी बड़ा कदम उठाते हुए मेरी सलाह जरूर लेंगे. इस लंबे समय में फरीदा ने मुझे अपने अंदाज से समझने की कोशिश भी की थी जो कहीं-कहीं ठीक साबित होता था, कहीं गलत. मेरे लिए वह बिल्कुल छोटी बहन ही थी.

''मैं सलीम!'' अपने सामने खड़े लड़के से खुद का परिचय कराते हुए मैंने कहा, ''फरीदा का भाई.''

लड़का मामूली सूरत-शक्ल का था. लंबा कद, सांवला रंग और काले घुंघराले बाल. सिर्फ उसकी आंखें थीं जो एक मामूली चेहरे को गैरमामूली बनाती थीं.

''नमस्ते.'' मेरे आगे बढ़े हाथ को उसने अपने हाथों में थामते हुए कहा, ''आईए न, अंदर ऑफिस में आइए. फरीदा अक्सर आपकी बात किया करती है.''

''नहीं अनिल'', मैंने उसे समझाने के अंदाज में कहा, ''फिर कभी. इस वक्त मैं सच पूछो तो एक खास काम, तुमसे एक खास बात करने आया था. जो शायद अंदर ठीक न लगे. यह बताओ, तुम्हें आधे घंटे की फुर्सत मिल सकेगी?''

उसने एक पल सोचने के बाद कहा, ''आप ठहरें, मैं अभी आता हूं.''

अनिल कॉलेज में लाइब्रेरियन था.

''कितना वक्त हुआ तुम्हें सर्विस ज्वाइन किये?'' अनिल के लौटने पर हम दोनों कार में आ बैठे, ''और इस शहर में आये?''

''तीन साल हो जायेंगे, अगले महीने,'' उसने आंखें झपझपाकर मेरी ओर देखते हुए कहा, ''तभी से यहां हूं.''

''फरीदा तुम्हारी बहुत तारीफ करती है.'' बात को सीधे गम्ते लाने की कोशिश में मैंने कहा.

''बुरा तो शायद मैं आपको भी नहीं लगूं'', बिना अपनी बात में वजन पैदा करने की कोशिश किये उसने सहजता से हंस कर कहा, ''वैसे मेरे सामने तो फरीदा आपके ही कसीदे पढ़ती रहती है.'' उसी ने बताया, ''फरीदा बताती है आपने बहुत अच्छी कहानियां लिखी हैं.'' एक पल की खामोशी के बाद उसने उसी संजीदगी से कहा, ''आपकी कुछ कहानियां तो, जैसा मैंने बताया मैं खुद तो उर्दू पढ़-लिख नहीं सकता, फरीदा ने मुझे पढ़कर सुनायीं. मुझे भी अच्छी लगीं.''

''एक-आध हमें भी तो पता चले?'' मैं कार का दरवाजा खोले बैठा था और हमारे करीबो-दूर लहराती हरियाली और वीराना था. कालेज से हम काफी दूर निकल आये थे.

अनिल एक पल को अपनी गहरी, संजीदा आंखों से मुस्कराया था, ''इस वक्त तो एक ही याद आ रही है'', उसके लहजे में ठहराव था. ''एक कहानी जो आपने हिंदू-मुस्लिम शादी को लेकर लिखी थी.''

नर-नारी संबंध ■ जैनेंद्र कुमार

जिसको वासना कहते हैं, दुर्घटनाएं परस्पर उसी को लेकर बना करती हैं. उस आकर्षण में अधिक अमोघता और अदम्यता है. घोरता वहीं से उपजती है, इसीलिए शायद उसको अधिक तत्पर विचार और महत्व का तत्व मान लेना उचित ही है. प्रेम की उत्कंठा उसी संबंध में से सृष्टि या ध्वंस करती है. इधर जघन्य और उधर धन्य भाव की अनुभूति इस परस्परता में से संभव है. क्रूरता और हत्या भी निकल सकती है और पराकाष्ठता के वाधिष्य और उत्सर्ग के उदाहरण भी. प्रेम के अन्य संबंध आंशिक और नैमित्तिक माने जा सकते हैं. किंतु वह नर-नारी संबंध, जिसमें व्यक्ति विवश होकर अपने को खो रहता है, जिसमें वह परस्पर के द्वारा क्षण के लिए मानों अपना अनस्तित्व सिद्ध और लब्ध कर आता है, जिसमें अन्य के द्वारा स्वयं टूटकर व्यक्ति अपने को कृतार्थ अनुभव कर आता है, उस सर्वग्रासी प्रेम को अनन्य ही मानना चाहिए. वह भौतिक भाव से परस्पर पूरक है और इसमें एक दूसरे से बचाव संभव नहीं है.

...स्त्री-पुरुष के बीच का हर प्रेम वासनामूलक और इसलिए अशुद्ध होता है, यह कहना एक अपेक्षा से सर्वथा अवैज्ञानिक नहीं है. किंतु स्त्री-पुरुष अगर एक दूसरे के अतीत हो आयें तो यही प्रेम दिव्यता प्राप्त करता चला जाता है. भोगानंद क्षणिक होता है. क्षण की सीमा तोड़कर यदि निरंतर और सतत हो आ सके तो वही ब्रह्मानंद है. उस प्रकार योग भोग का इंकार न रहकर उसका उत्कृष्ट

''हुंह!'' मैंने व्यंग्यात्मक आवाज में एक हुंकारा भरा था और सब कुछ खामोश हो गया था. आसमान में मंडराती-चकराती चीलें अगर चिल्ला भी रही हों तो उनकी आवाजों की पहुंच हम तक नहीं थी.

''तुम्हें मालूम है,'' इस सकते को तोड़ते हुए कुछ देर बाद मैंने कहा... कार रुकी खड़ी थी लेकिन मेरे हाथों में दबा स्टेरिंग बराबर हरकत कर रहा था, ''मेरा दिल क्या चाहता है? चाहता है जो कुछ लिखा सब फाड़कर चिंदी-चिंदी कर दूं... खासकर वह कहानी जिसका जिक्र तुमने अभी-अभी किया!''

''क्यों?'' बगैर किसी चौकन्नेपन को दर्शाए आवाज मुझसे सवाल कर रही थी.

''क्यों कि वह सब झूठ है! लिखा जा सकता है सिर्फ, जिया नहीं जा सकता.''

''आप जो कुछ कह रहे हैं'', उसने थमे हुए स्वर में कहना शुरू किया, ''उसमें बहुत कुछ सच होगा या सच है, इस से मैं इनकार नहीं करता. उम्र से फर्क भी पड़ता है. बिल्कुल पड़ता होगा, मैं सोच सकता हूं. इस सबके बावजूद दुनिया बदल रही है, और शायद हर समय में अपनी जरूरतों और सहूलतों के हिसाब से बदलती रहती है... यह भी शायद में कोई नयी बात नहीं कह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदात्तीकृत स्वरूप हो आता है. पूर्णता और मुक्तता से पहले क्या हर स्थिति सदोष नहीं है ? किंतु निर्दोषता एक ऐसा आदर्श है कि जिसकी ओर की यात्रा में सदोषता भी सहायक और उपादेय बन आती है. याद रखना चाहिए कि होना स्वयं में एक बाधा है, दोष है. इस भवता से पार ही निर्दोषता और शुद्धता हो सकती है. इसी संदर्भ में काम और कामना प्रकट कर आती हैं, वह स्वयं में अंतिम शुद्धता के ध्रुव तक जाये बिना रहना नहीं चाहती है. इस सतत प्रकर्षमान अभीप्सा में अंतर्निहित चित् तत्व के कारण काम को वर्जनीय नहीं ठहराया जा सकता. बल्कि धर्मपूर्वक उसके स्वीकार, सत्कार और सहकार से मोक्ष की ओर प्रगति होती है, ऐसा कहा गया है. ऐसा कहा उन्होंने है जो जानते थे और जानेंगे वे भी ऐसा ही कहने को बाध्य होंगे.

यह तथ्य सभ्यता और संस्कृति की विकास-प्रक्रिया में उद्भूत हमारी सामाजिक संस्थाओं और अनुष्ठानों में रचा और समाया देखा जा सकता है. विवाह धार्मिक और मांगलिक संस्कार है. उस आकर्षण को जिसे अन्यथा वासना कहकर निषिद्ध बना दिया जाता है, विवाह के अभिषेक से मानो हम मंत्रपूत, धर्म्य और वरेण्य बना लेते हैं. तब जो भी ध्वंसात्मक और ज्वलनशील है, वह रचनात्मक और चिन्मय हो जाता है.

शुद्धता और पवित्रता की वह धारणा जो स्त्री-पुरुष के बीच अलगाव और दुराव करने में ही सार्थकता देखती है, एक हठीली भ्रांति की ही द्योतक है. उस दिशा में वीरानगी और व्यर्थता ही है, कृतकृत्यता और कृतार्थता की कोई संभावना उस दिशा में नहीं हो सकती. □

रहा. आपने मुझसे ज्यादा दुनिया देखी है, आपको ज्यादा ठीक से अंदाजा होगा. और सलीम भाई, अगर आप मुझे भाई कहने का हक़ दें तो मैं तो दुनिया को बदलने पर सचमुच विश्वास करता हूं. अपने ढंग से कोशिश भी करता हूं और जानता हूं कि एक न एक दिन इसका नतीजा ज़रूर निकलेगा.''

''किसी अक्लमंद का कहना है कि जो अठारह साल की उम्र में क्रांति के बारे में न सोचे उसके दिल के साथ गड़बड़ है लेकिन जो चालीस के बाद भी सोचता रहे उसके दिमाग में कोई खराबी है! मेरी उम्र तुम देख रहे हो!''

बात पूरी होने से पहले ही वह खिलखिला कर हंसने लगा था. बेक़ाबू हंसते उसकी आँखों से आंसू वह निकले थे और काफी कोशिश के बाद उसने हंसी को रोका था.

''मैं तो जो हूं, आपके सामने हूं. और सिर्फ इसी वजह से नहीं कि मेरी उम्र चालीस से कम है.'' कहकर वह फिर बेकाबू हँसने लगा.

''खुद को क्रांतिकारी साबित करने का बस यही एक तरीका रह गया है कि मुसलमान लड़की से शादी कर डालो!''

उसके हँसने की आवाज और चेहरे पे खेलती मुस्कराहट एक पल में ग़ायब हो गये और उसकी जगह संजीदगी किसी घनी छांव की तरह घिर आयी. अगर मेरे कहे से उसे कोई चोट लगी या तकलीफ पहुंची हो तो उसकी तड़प उस छांव में छिप गयी और कम से कम मैं उसे नहीं देख पाया.

''आप जानते हैं,'' मुस्कराहट उसके चेहरे पर फिर लौट आयी थी लेकिन अब उसमें बच्चों-सी शोखी के बजाय बूढ़ों-सी संजीदगी थी, ''मैं फरीदा से शादी खुद को कुछ साबित करने के लिए नहीं करना चाहता. मुझे विश्वास है इतनी देर में आपको यह तो अंदाजा हो गया होगा. और अगर नहीं हुआ तो फिर मैं आपको समझा भी नहीं सकता.''

''तुमने इस शादी के दूसरे नतीजों के बारे में भी सोचा है? फरीदा अपने घर की सबसे बड़ी लड़की है. इस शादी के बाद बाकी छोटी बहनों का क्या होगा? उनकी शादियां किससे होंगी.''

''जैसे दुनिया में और लड़कियों की होती हैं, वैसे ही उनकी भी होंगी.''

''हर घर की लड़की इतनी खुदसर नहीं होती कि अपने मजहब के बाहर किसी से शादी करने का सोचे! और तुम जानते हो फरीदा का ताल्लुक एक मिडिल क्लास घराने से है, जिसमें दान-दहेज की भी कोई कशिश नहीं. जो कुछ भी देने को है वह बस यही पढ़ी-लिखी लड़कियां हैं. खान साब, फरीदा के अब्बा, आनेवाले चंद महीनों में रिटायर हो जायेंगे. औलाद में लड़का कोई है नहीं. इन हालात में तुम खुद फरीदा के एक हमदर्द की हैसियत से सोचो बाकी घरवालों और छोटी बहनों का क्या बनेगा.''

उसके चेहरे पर रवानी के साथ बदलते भाव मैं देख सकता था. लगा जैसे मैंने जो कुछ उससे ऊंची आवाज में कहा उसमें कुछ भी नया नहीं था. वह खुद इन चीजों को सोच चुका है. शायद सिर्फ इतना ही नहीं, इसके आगे भी.

''फिर आप बतायें'', उसने गंभीर स्वर में कहा. पल भर को उसका चेहरा बिल्कुल सादा हो गया था... वहां कुछ भी नहीं था पढ़ने को, ''क्या किया जा सकता है?''

खामोशी! आसमान में मंडराती चीलें भी नजर से ओझल हो चुकी थीं. कार में बैठे-बैठे हल्की गर्मी सी लगने लगी थी.

''तुम्हें देर हो रही है'', मैंने घड़ी देखते हुए इस लंबी खामोशी को तोड़ा, ''अभी नहीं, चाहो तो तुम सोचकर मुझे बाद में बता सकते हो.''

''सोचना कुछ नहीं,'' उसने उसी फुर्सत और इतमिनान के लहजे में सिगरेट का गुल झाड़ते हुए कहा, ''हद यह कि मेरे बारे में तो जो आपको सोचना था वह आपने भी नहीं सोचा. बहनें और दूसरे घरवाले तो मेरे भी हैं. और इस शादी के बाद जो हालात पैदा होंगे, उनका सामना तो मुझे अपनी जिंदगी में भी करने पड़ेगा. बहरहाल, वह मेरी अपनी समस्या है जिसे नजरअंदाज करने का मुझे आपसे कोई गिला नहीं. फरीदा की समस्या जो आपने सामने रखी. तो मैं बताऊं-धर्म-वर्म का महत्व मेरी नजरों में इतना है नहीं. सिर्फ दुनिया को ही दिखाने की बात है तो मैं जैसा हिन्दू वैसा मुसलमान! मैं किसी भावुकता में बहकर कुछ नहीं कह रहा. अगर इस से फरीदा की बहनों के भविष्य पर कोई अच्छा असर पड़ सकता है तो मैं दिखावे का मुसलमान हुआ जाता हूं. मेरे घरवालों की चिंता आप न करें, वह मेरी समस्या है!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन..." वह एक पल को रुका था. –"लेकिन यह शुद्ध और निरा पाखंड होगा. एक झूठा दिखावा,जिससे अगर कुछ देर के लिए किसी का कुछ बिगड़ने से बचता है तो मैं तैयार हूं."

मैं सकते के आलम में बैठा, उसका चेहरा देखता रह गया.

"मुझे फरीदा अच्छी लगती है, जीवन उसके साथ बिताना चाहता हूं... इस विश्वास के साथ कि वह भी ऐसा ही चाहती है. लड़का होने के नाते में कुछ ऐसे बड़े कदम भी उठा सकता हूँ जिनकी उम्मीद लड़की होने के नाते उससे नहीं की जा सकती."

"यह बात", मैंने अटकते से स्वर में कहा था, "तुमने यह बात फरीदा से तो नहीं की?"

"अभी नहीं, लेकिन समय आने पर..."

"यह बात तुम उससे कभी मत कहना!" अपने लफ्ज-लफ्ज पर जोर देकर मैंने कहा, "कभी नहीं!"

"यह फजूल की बात है," मेरा जुमला खत्म होने से पहले ही खान साहब झुंझलाकर बोले थे, "प्रेक्टिकल! थ्योरेटिकल! अमां जिस चीज को अपनाया ही नहीं जा सकता उसकी तारीफ़-तकीद, मेरी नजरों में दोनों फजूल हैं."

"मजहब भी"; एहतियातन मैंने बहुत धीमें स्वर में कहा, "लोगों के लिए आजकल कुछ ऐसी ही चीज होकर रह गया है."

"तौबा, तौबा! "बेगम साहिबा ने अपने गाल पीटे थे और खान साहब गर्दन हिलाकर किसी गहरी चिंता में डूब गये थे. उनकी नजरें खिड़की के बाहर फैली धुंधली धूप में भटक रही थीं.

"सलीम मियां, देखो बेटे!" खान साहब मेरी ओर वापस मुड़े थे, "तुम्हारा अपना सोचने का ढंग है और मैं उस पर रायजनी करनेवाला कोई नहीं होता. इस वक्त जो मसला दरपेश है, बात उसी को लेकर करें तो ज्यादा बेहतर होगा. तुम ही जरा ठंडे दिमाग से सोचकर मुझे मशवरा दो, कोई हल सुझाओ, मैंने मानने से कब इनकार किया है. मेरे सारे हालात बखूबी जानते हुए कोई हल. तुम्हें अच्छी तरह मालूम है कि कठमुल्ला नहीं, लेकिन यहां बात उससे बहुत आगे की है."

"मियां," बेगम साहिबा आबदीदा होकर कह रही थीं, "हमारा इन बेटियों के अलावा और सगा है कौन... या..." वह पल भर रुककर बोली थीं, "अल्लाह तुम्हें जीता रखे, एक तुम हो जिसे जब तब परेशान कर लेते हैं. कोई भी मां-बाप अपनी औलाद की खुशी से ज्यादा क्या चाहेगा? और इसीलिए यह सोच पाना भी मुमकिन नहीं कि पल की खुशी, उम्र का जलापा बन जाये."

"लेकिन", मैंने बहुत धीमे स्वर में कहा, "यह तमाम समझदारी की बातें करते हम एक चीज बिल्कुल भूल रहे हैं. ईमानदारी से देखा जाये तो फरीदा बालिग है और उसे उसकी मर्जी के खिलाफ करने पर मजबूर नहीं किया जा सकता. आपकी सारी परेशानियों से इत्तिफाक करते हुए भी यह मैं फरीदा और उस लड़के की भल-मंसाहत ही कहूंगा कि उन्होंने कोई कदम आपकी मर्जी के खिलाफ नहीं उठाया है–यह जानते हुए भी कि कोई उनके साथ नहीं होगा, खिलाफ ही होंगे."

"कैसे उठाती!" बेगम साहिबा तुनक कर बोली, "कुछ खानदान और परवरिश के भी माने होते हैं. हिम्मत कैसे कर सकती थी इतनी!"

"अपन लोग उसका या उन दोनों का क्या कर लेते?" मैंने सहजता के साथ पूछा.

"टांगें तोड़ देती मैं उस कमीनी की!" बेगम साहिबा का गुस्सा बढ़ता जा रहा था, आवाज ऊंची हो गयी थी, "जीते जी उसकी शक्ल नहीं देखती, दूध नहीं माफ करती!"

"यह सब कर सकती थीं", मैंने बहुत इतमिनान के साथ कहा, "लेकिन उसे शादी करने से कानूनन रोक नहीं सकतीं."

बेगम साहिबा होंठों ही होंठों में बुदबुदाती शायद अपने मुकद्दर को कोस-पीट रही थीं और खान साहब की आंखें एक खास चमक लिये, खिड़की के बाहर भटक रही थीं. सबीहा, फरीदा से छोटी बहन चाय-नाश्ते का सामान लिये कमरे में आ गयी.

"लो मियां", बिस्किट की प्लेट मेरी ओर खिसकाती बेगम साहिबा बोलीं और चाय की प्याली में चमचा चलाने लगीं. तभी खान साहब ने एक जोर का ठहाका लगाकर हंसना शुरू कर दिया और बेगम साहिबा और मैं दोनों ही फिक्रमंद, संदेह भरी नजरों से उनकी ओर देखने लगे.

"कुछ नहीं", खान साहब ने हंसते हुए अपनी पत्नी की आंखों में आंखें डाल कर कहा, "ऐसे ही खयाल आया कि क्या पता, सलीम मियां जिस को खतरा बनाकर हमारे सामने रख रहे हैं, वह अभी तक हो भी चुका हो!"

"क्या मतलब?" बेगम साहिबा सचमुच नहीं समझी थी. वह एक सादा, घरेलू औरत थीं; अपनीअकल का उन्हें कोई दावा था भी नहीं.

"मतलब यह कि आपकी बिटिया का ब्याह अभी तक हो भी चुका हो!"

"हाय-अल्लाह!" बेगम साहिबा के हाथ में चाय की प्याली डगमगाई. "कैसी मनहूस बातें करते हैं आप! जुबान पर लाने से पहले कभी सोच भी लिया कीजिए! अरे आप मर्द, सब एक जैसे!" उनके आंसू बहना, नाक सुड़कना, साड़ी का पल्ला भीगना शुरू हो गया, "अरे, कभी एक मां के दिल से भी सोच लिया कीजिए!"

"खान साहब ने तो सिर्फ एक बात कही," मैंने बेगम साहिबा को दिलासा देने की कोशिश में कहा.

"जो सही भी हो सकती है!" खान साहब की तेजाबी हंसी तंज में बुझी थी. "क्यों सलीम मियां!"

"सही तो कोई बात भी हो सकती है!" लाख काबू रखने की कोशिश के बाद भी मेरे स्वर में थोड़ी झुंझलाहट आ ही गयी, जिसे खान साहब ने फौरन महसूस कर लिया. एक खामोशी जिसमें सिर्फ बेगम साहिबा के कभी-कभी सुबकने की आवाज उभर आती, "और अगर अभी तक नहीं," मैंने खुद पर कंट्रोल करने की कोशिश करते हुए कहा, "तो लगता है आगे हो जायेगा."

"लो!" खान साहब हंस जरूर रहे थे लेकिन उस हंसी में बहुत टूटन थी, "देख लिया," वह बेगम साहिबा से अपनी दिलशिक्नी छिपाते हुए हंस कर कह रहे थे, "अपने सलीम मियां ही धमकी दे रहे हैं. यह भी तो फरीदा के भाई हैं. अब बताओ, क्या करें? अब तो मामला धमकी तक आ पहुंचा है."

"कोई धमकी नहीं," मैंने खान साहब की तरफ झुकते हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत मुलाइमत के साथ कहा, "यकीन जानें मैं आपके हुक्म के खिलाफ कुछ नहीं होने दूंगा, चाहे वह मेरी मर्जी के कितना भी खिलाफ हो बुजुर्गों का एहतिराम करना हमारी रिवायत रही है और इसे कायम रखने में हमने बड़ी से बड़ी कुर्बानी दी है. क्या होगा, ज्यादा से ज्यादा दो लोगों की जिंदगी ही बर्बाद होगी, तो रिवायतों के एहतिराम की खातिर यह भी हंसी-खुशी कबूल व आप फिक्र मत कीजिए, अनिल और फरीदा की तरफ से यह गारंटी मैं देता हूं. सब कुछ आपकी मंशा और मर्जी के मुताबिक होगा."

सिर्फ बेगम साहिबा के सुबकने की आवाज.

"और यह इस तरह का पहला मौका तो होगा नहीं", मैंने धीमे स्वर में बात जारी रखी, "न जाने मुल्क के कितने नौजवान इन रिवायतों को कायम रखने के लिए अपनी जिंदगी जीते जी जहन्नुम बनाते आये हैं और.." मैंने लंबी सांस लेकर एक उचटती-सी नजर खिड़की के बाहर दौड़ाई जहां रोशनी का गंदलापन घुटन का माहौल बनाये हुए था, "और ज्यादा दूर भी क्यों जाया जाये, अपने आसपास, करीब बल्कि खुद को ही लेकर बात करें तो चीजें ज्यादा आसानी से समझ में आ पायेंगी. कम से कम मैं तो खुद को लेकर बात कर ही सकता हूं."

बेगम साहिबा की आंसुओं में डबराई और खान साहब की टटोलती, टोह लेने की कोशिश करती आंखें मेरी तरफ तक रही थीं.

"बेगम साहिबा"... मैं जब उन्हें संबोधित कर रहा था तो अपनी आवाज भी किसी फासले से आती लगी, "मुझसे जान-पहचान और ताल्लुक के इस लंबे अर्से में एक सवाल आपने ख्वाहिश के लहजे में बारहा पूछा है; हमेशा क्यों से बचकर, यह कहते हुए मुझे शादी कर लेना चाहिए. मैं जानता हूं कि इसके पीछे आपकी मुझसे मुहब्बत और मेरे आनेवाले वक्त को लेकर पैदा हुई फिक्र ही काम करते रहे हैं. साथ ही साथ मुझे यह भी अंदाजा है कि मेरी उम्र, जो अब चालीस साल होने जा रही है, इस बात की गुंजाइश नहीं छोड़ती कि बाकी चंद सालों के लिए कोई बड़ा कदम उठाने की हिम्मत की जाये. लेकिन मैं यहां, उम्र की इस सरहद तक पहुंचा कैसे, अंदाजा है आप लोगों को?"

मैंने चाय की आखिरी चुस्की लेकर प्याली रखते हुए देखा, खान साहब की चाय वैसी ही रखी थी. उनका दाहिना पैर हिल रहा था. दोनों हाथ सीने पर बँधे हुए, गर्दन बायें कंधे की ओर मुड़ी हुई और नजरें बाहर धीरे-धीरे अंधेरे में तबदील होते धुंधलके में एक लाचारी से गढ़ी हुई थीं.

"शायद कुछ अंदाजा तो आपको पहले से ही रहा हो," खामोशी को फिर मेरी ही आवाज ने तोड़ा, "और जो तफसील जानते हैं, उनको भी आज हो सकता है सारी बात एक हिमाकत और बेबकूफी से ज्यादा न लगती हो. खुद मैंने जिंदगी में इस बात को लेकर न कभी मुंह खोला और अगर आज यह मौका न आता, तो न कभी खोलता. सुनेंगे आप लोग मेरी बात?"

उन लोगों को मेरी ओर देखने को 'हां' मानकर मैं शुरू हो गया. था क्या कहने को? बहुत संक्षिप्त. मेरा जिंदगी का पहला और आखिरी संबंध, साथ पढ़नेवाली एक लड़की से था जो इत्तिफाक से हिंदू थी. हम दोनों एक दूसरे को पसंद करते थे, शादी करना चाहते थे. बीच में दोनों तरफ के बुजुर्ग मय अपनी-अपनी रिवायतों के आ धमके. नतीजा?... हमेशा की तरह रिवायतें जीत गये. हम दोनों ने खुद ही मिलकर तय किया कि अपने बड़ों के लिए अड़चनें पैदा करने के बजाय हमें उनका कहा मान लेना चाहिए. यूं हुआ मैं और मेरी जिंदगी के इतने साल!

"लेकिन", बात खत्म होने पर खान साहब ने बहुत संजीदगी से मेरी तरफ देखते हुए कहा, "उस लड़की की तो बाद में कहीं शादी हुई होगी. और आज वह अपने शौहर और बच्चों के साथ खुशी-खुर्रम होगी." बात में सवाल नहीं जैसे मेरी याद-दहानी थी.

"खुशी-खुर्रम!" मेरे लहजे में कड़वाहट थी. "हां, शायद खुशी-खुर्रम ही हो. लेकिन दो लोग खुशी-खुर्रम रहते, क्या यह ज्यादा बेहतर न होता?"

"यह सब जज्बातियत है मियां!" खान साहब जैसे अपने आप से ही चिढ़कर बोले थे, "उम्र दाना और भूसा, दोनों फटक कर अलग कर देती है!"

"मुझे आप क्या कहेंगे?"

कोई जवाब नहीं. दोनों खामोश, नजरें गाढ़े बैठे थे.

"और जज्बात क्या कोई गाली जैसा लफ्ज है? मैं होंठों ही होंठों में बुदबुदा रहा था, "नौजवानी क्या अपने-आप में जिये जाने लायक चीज ही नहीं? क्यों हम नौजवानों को अपने तजुरबे सुना-सुना कर, उम्र के भारी-भरकम हिदसों से सहमा कर वक्त से पहले बूढ़ा करने पर तुले रहते हैं! हमारी गलती क्या हर एक इनसान के लिए, सही और गलत के बीच फैसला करने का कोई पैमाना हो सकती है?"

"यह तुम्हारी भलमनसाहत है मियां कि इतनी तकलीफ उठाकर भी किसी को इल्जाम नहीं दे रहे," बेगम साहिबा इस अंदाज से बोली थीं जैसे मुझे दिलासा देना उनका फर्ज बनता हो. "और उसने घर भी बसा लिया! देखा यह फर्क होता है."

"हिंदू और मुसलमान के बीच ना?" जुमला खान साहब की मजाक उड़ातीं, तेजाब में बुझी आवाज ने पूरा किया. "मुसलमान कुंवारा मरना पसंद करता है! इस हिसाब से तो फिर शायद अपनी फरीदा भी कुंवारी ही जिंदगी बिताए! यही कहना चाहती हो ना आप?"

बेगम साहिबा अपने ही शब्दों की पकड़ में आकर

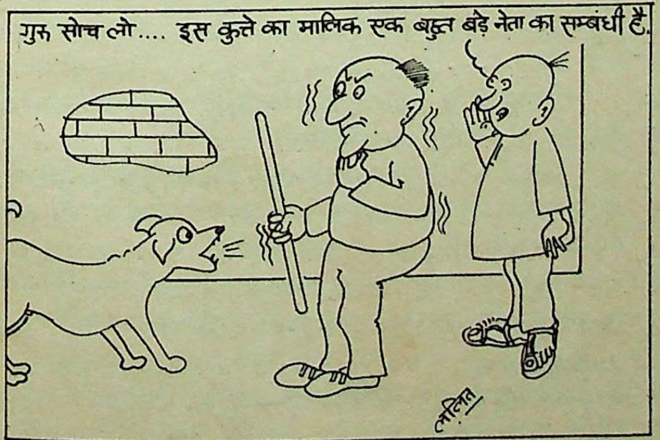

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तौबा-तिल्ला करने पर मजबूर हो गयीं. फिर इससे फारिग होकर उन्होंने एकदम वह बात कह दी; जिसका मुझे कब से खतरा और इंतजार था.

"ऐसा क्यों नहीं करते मियां", उन्होंने विनती के स्वर में बहुत धीमे से कहा, इतना ऊंचा कि सिर्फ मैं सुन भर सकूं, "उससे कहो कि इस्लाम कबूल कर ले."

मुझे अच्छी तरह अंदाजा था कि खान साहब ने अभी बोला गया एक-एक शब्द सुना है, लेकिन वह बखबर बने बैठे रहे.

"खान साहब," कुछ देर की खामोशी के बाद मैंने उन्हें पुकारा, "आपने सुना बेगम साहिबा का मशवरा? आपको इत्तिफाक है?"

वह चुप रहे, सिर्फ उनका पैर तेजी से हिले जा रहा था.

"सोच लीजिए आप दोनों कि क्या यह मुनासिब रहेगा," मैंने जैसे अपने-आपसे ही कहा था, "अनिल के सामने यह शर्त रखी जा सकती है, वह कबूल करता है या नहीं, इसके लिए तो इंतजार करना पड़ेगा. वैसे खुद उसने तो, फरीदा से एक बार भी यह नहीं कहा कि तुम अपना मजहब छोड़ दो."

"अभी न कहे मियां", बेगम साहिबा बोली थीं, "आखिरकार तो औरत को खुद मर्द के रंग में रंगना ही पड़ता है. और फिर बच्चे तो बाप के नाम..."

"ऐसी सूरत में सबसे बड़ी मरन तो बच्चों की हो जाती है!" खान साहब के होंठ आप ही आप खुल कर बंद हो गये थे.

"तसलीम", मैंने सिर झुका कर कहा, "लेकिन जो आदमी आज एक लड़की के लिए अपना मजहब छोड़ सकता है, कल क्या किसी और बड़ी चीज के लालच में आपकी बेटी को नहीं छोड़ सकता? क्यों उसे आप एक बेमसरफ इम्तिहान में डालना चाहते हैं?"

बात बगैर किसी नतीजे पर पहुंचे दायरों में घूम रही थी.

"तुम बताओ क्या करें?" एक बार फिर सवाल मेरे सामने खड़ा कर दिया गया था, "जो तुम मशवरा दोगे, वही करेंगे."

"मशवरा मैं कुछ नहीं दे सकता, सिर्फ जो खुद सोचता हूं वह आपके सामने रख सकता हूं", मैंने थक कर कहा, "कोई गारंटी नहीं है किसी भी चीज की. हो सकता है जो तमाम खतरे आप सोच और गिना रहे हैं सौ फीसदी सच साबित हों, हो सकता है ऐसा कुछ भी न हो. रिस्क तो है, लेकिन उससे शायद कुछ ही ज्यादा जितना फरीदा को किसी मुसलमान लड़के से ब्याहते हुए होता. मैं पूछता हूं ऐसी शादियां अव्वल तो होती कितनी हैं और उन में जो खुशहाल रहते हैं उनका जिक्र कोई क्यों नहीं करता? सिर्फ उन मिसालों को क्यों चुना जाता है जिनमें कुछ कड़वाहट या बदमजगी हो? मैं आपको इल्जाम नहीं दे रहा. सब यही करते हैं, मैं भी करता हूं."

"आखिर कब तक चीजों को संजीदगी से समझे बगैर हम सिर्फ रिएक्ट करते रहेंगे. मुझे नहीं लेना कुछ अपने पुरखों की शानदार तारीख से जिसमें उन्होंने हिंदुस्तान पर सदियों हकूमत की न उस अलहदगी के जज्बे से जिसने मुल्क का बंटवारा कराया. मुझे अपनी जिंदगी यहां और इन लोगों के बीच बितानी है जो मुझे तमाम फर्क के ढंढोरा पीटे जाने के बाद भी एक-से लगते हैं. कब हम मानेंगे कि यह फर्क की पब्लिसिटी कुछ लोगों का रोजी-रोटी और वजूद बनाये रखने का तरीका है और इससे नुकसान वह उठा रहे हैं जिनके किये से लोग आपस में करीब आ सकते हैं.

"ऐसी शादियों से पैदा हुए बच्चे! कितनी शादियाँ और कितने बच्चे!! इन बच्चों की हो तो जाने दीजिए तादाद इतनी कि उन्हें गिना या एक मसला समझा जा सके... और इस मसले का हल मैं और आप नहीं, वही लोग खोजेंगे जो इस आपस के मिलने से पैदा होंगे."

"कुछ दिन और यूंही चलेगा. आपसी डर, शको-शुबह, हिचकिचाहट... लेकिन आखिर कब तक. अलग-अलग मजहब के माननेवाले हैं जिन्हें एक कौम की हैसियत से जीना है. कल सूरतेहाल बदलेगी और इस रिश्ते की खूबसूरती को सराहा जायेगा. कल यह तसलीम किया जायेगा कि इन अलग-अलग इकाईयों में बांट दिये गये लोगों में रिश्ता मजहब से कहीं गाढ़ा है. कभी न कभी तो कुछ अच्छा होगा खान साहब, बेगम साहिबा... कोई न कोई तो जरूर खुशी-खुर्रम जी पायेगा. शादी होने दीजिए. इन लोगों के बीच आने के बजाय इन्हें सिर्फ वक्त को सौंप दीजिए. ताकि कल जब वह अच्छा वक्त आये तो फरीदा और यह लड़का उन पछतानेवालों में से न हो जिन्होंने हिम्मत तो की, मगर फिर पीछे हट गये. आपको मालूम है आज मुझे सबसे बड़ा पछतावा क्या है? कि मैंने उन तमाम रस्मो-रिवायात की परवाह क्यों की और जिंदगी जैसे सोचा था उस तरह क्यों नहीं गुजारी. लेकिन अब मैं सिर्फ पछता ही सकता हूं.

"नौजवानी बड़ी सखी, बहुत दरिया-दिल होती है खान साहब, बेगम साहिबा, एक इशारे पर उम्र खैरात कर देने का हौसला रखती है. मत कीजिए! फरीदा और अनिल को अपनी जिंदगी खैरात करने पर मजबूर मत कीजिए. इसके बदले मैं, बाबजूद कि मेरा अकीदा किसी खुदा, किसी भगवान में नहीं, सारी जिंदगी हाथ उठाकर आप दोनों के लिए दुआ करूंगा!"

मुझे नहीं मालूम बोलते-बोलते मैं कब उठकर खड़ा हो गया. खिड़की की चौखट मैंने भींचकर पकड़ी हुई थी और आंखों में नमी से चश्मा धुंधला गया था. खान साहब और बेगम साहिबा मेरे पास खड़े थे. उनके हाथों का गर्म स्पर्श मैं अपने सिर और पीठ पर महसूस कर रहा था.

"सलीम मियां! सलीम मियां!" खान साहब मुझे पुकार रहे थे, "कैसे बेटे हो यार तुम हमारे!" उनकी रुंधी हुई आवाज मुझ तक पहुंच रही थी... "हम पर भरोसा नहीं! अब तुम्हारा क्या होगा या हम जैसे सठियाते लोगों का! पानी पियो. बैठ जाओ! यह कैसा बहादुर भाई है फरीदा का!" उन्होंने मेरे गाल थपथपाकर कहा था.

"बुलाओ ना, यह लड़की है कहाँ?" वह बेगम साहिबा से कह रहे थे, "देखो, अंदर ही होगी."

जब मैं वहां से चलने को हुआ तो रात खासी बीत चुकी थी. बाहर सड़कों पर उस समय घना कोहरा बसा हुआ था और कुछ दूर का सूझना भी दूभर हो रहा था.

बहुत खुश और हल्का महसूस करता मैं आप ही आप मुस्कराया और अगले ही क्षण गहरी चिंता में डूब गया. □

■ द्वारा: शिल्पकार फर्निशिंग्स, 4 वाहिद बिल्डिंग, हमीदा रोड़, भोपाल—462001

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिकता का मोल

• हरिशंकर परसाई

दूसरों के ईमान के रखवाले हर क्षेत्र में जैसे बढ़ रहे हैं, वैसे ही साहित्यिक क्षेत्र में. अपना ईमान किस्तों में ये 'नैतिकता-वादी' कबाड़ियों को बेचकर खलास कर चुकते हैं, तब सड़क पर चिल्लाते फिरते हैं—फलां ने अपना ईमान बेच दिया. अमुक अपना ईमान बेच रहा है, उसे रोको. रोक नहीं सकते तो उसे धिक्कारो! कुछ की हालत उस पुलिस हवलदार जैसी है जो रात को किसी का माल चोरी करके घर में रख लेता है और फिर शहर में चोरी रोकने डंडा और सीटी लेकर निकलता है. या कोई उस सिपाही की तरह है, जो किसी घर से जेवर चुराना चाहता है, पर चुरा नहीं पाता, इसलिए चौकसी करने लगता है कि कोई दूसरा जेवर न चुरा ले. कोई ऐसे हैं, जिनके ईमान का कोई ग्राहक नहीं मिलता, तो वे चिल्लाते फिरते हैं—उसने ईमान बेच दिया! इसका मतलब है—मेरे पास भी बेचने को माल है. मंहगा—सस्ता निकाल दूंगा. ग्राहक संपर्क करें.

मगर ऐसे लेखक भी हैं, जो अपने ईमान की रक्षा करते हैं और दूसरे के ईमान को भी बचाना चाहते हैं.

हर बार जब कोई राज्य सरकार, लेखकों को पुरस्कार बांटती है, ये विरोधी 'धिक्कार' के स्वर उठते हैं. मगर मैं पूछता हूं—लेखक पुरस्कार लेने से पहले किससे स्वीकृति लें? कौन हाईकमान है? कोई नैतिक 'कोड' हमने बनाकर रखा है क्या इस मामले में? मुझे अगर चर्बी कांड वाले वनस्पति उद्योगपति पुरस्कार देना चाहें तो मैं किससे स्वीकृति लूं? प्रभात शास्त्री से? सुधाकर पांडे से? भैरवप्रसाद गुप्त से? राजीव गांधी से? राजेश्वर राव से? नंबूदरीपाद से? अटल बिहारी बाजपेयी से? चंद्रशेखर से? मोरारजी भाई से? कोई ऐसी उच्च स्तरीय समिति भी लेखकों ने बनाकर नहीं रखी है, जिसके निर्णय से सब लेखक बंधे हों. हिंदी में ८-१० लेखक संगठन हैं. इनमें २-३ विचारधारा पर आधारित हैं और जिनमें कुछ अनुशासन है. बाकी में 'राम की चिड़ियां' हैं, जो खेत ढूंढती फिरती हैं.

जहां तक महादेवी जी का सवाल है, उन्हें बिना बहाना बनाये, बिना कैफियत के पुरस्कार लेना था. हर लेखक को अगर पुरस्कार लेना है तो उसे बिना बहाना बनाये लेना चाहिए. महादेवी को कोई जरूरत नहीं थी, कैफियत देने की. नागार्जुन १५ हजार ले गये. कोई कैफियत नहीं. 'संपूर्ण क्रांति' के दौर में वे चौराहों पर कविता पढ़ते थे—'इंदिरा जी क्या हुआ है, आपको? क्या भूल गयी अपने बाप को?' वे 'संपूर्ण-क्रांति' को समाजवादी क्रांति समझकर जेल चले गये. वहां 'क्रांतिकारियों' को देखा, समझा. समझ गये कि गलत किया. जेल से छूटे तो अखबार में बयान दिया—यह 'संपूर्ण क्रांति' नहीं 'भ्रांति' है. इस पर संपूर्ण क्रांतिकारियों ने उनसे धौल-धप्पा भी किया. मगर तब से मैंने उनकी कोई कविता इंदिरा गांधी की तारीफ में नहीं पढ़ी. वे पिछले ६-७ सालों से ज्यादातर राजनीतिक कविताएं लिख रहे हैं, मगर उनमें सत्ता पक्ष और विपक्ष दोनों की आलोचना होती है. नागार्जुन पुरस्कार लेने के लिए किसकी मंजूरी लें?

हिंदी लेखक तीन युगों में एक साथ जीता है—एक तो वह मध्य युग के संत कवियों की तरह अपना आदर्शीकरण करता है, कुंभनदास, कबीर, तुलसी की महिमा से मंडित करता है—'संतन को कहा सीकरी सों काम?' या अब तुलसी का होंहिगे नर से मनसबदार'. दूसरे वह अभी भी छायावादी रूमानी युग में अंशतः जीता है. थोड़ा-सा 'निराला' भी होना चाहता है. फिर अपने काल में जीता है—लाभ-हानि का हिसाब करता है, कहां से क्या मिलेगा यह पता लगाता है, उसे पाने की तरकीबें भिड़ाता है. वह अच्छा रहना, खाना-पीना चाहता है, सुख-भोग करना चाहता है. तो वह इस काइयांपन से पैसा लेना चाहता है कि 'माया महाठगनी हम जानी' कहता हुआ संत भी बना रहे, छायावादी रूमानी भावुक बेपरवाही भी निभ जाये—और वास्तविक धन भी हाथ आ जाये, सम्मान भी मिल जाये.—मुझे कुछ नहीं चाहिए. क्यों जबरदस्ती मेरे ऊपर धन और सम्मान लादते हैं. मैं तो निस्वार्थवाणी की साधना करता हूं. लिखना मेरी आत्मोपलब्धि है. यह करके वह ड्राफ्ट जेब में रख लेता है.

दो शब्द इन कुछ सालों में खूब चले हैं—'व्यवस्था' और 'सत्ता प्रतिष्ठान'! राजनीति से दूर होने की कोई लेखक कितनी भी घोषणा करे वह राजनीति में है और लोगों से घटिया, गंदी राजनीति में है जो अपनी राजनीति की खुली घोषणा करते हैं. व्यवस्था? व्यवस्था तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाजवाद के नाम से पूंजीवादी है. जो इसके विरोधी हैं, वे इसे बदलने के लिए संघर्ष करें. भारत के वर्तमान संविधान से समाजवाद नहीं आ सकता. यह बात भारत के प्रधान न्यायाधीश चंद्रचूड़ ने भी स्पष्ट कहीं है. जो समाजवाद विरोधी हैं, पूंजीवाद को स्वीकारते हैं, वे पूंजीवाद के नैतिक मूल्यों को स्वीकारें. ये नियम स्पष्ट हैं—जहां से जो मिल सके झपटो, पैसे को भगवान मानो, काला-धन कमाओ, घटिया माल बेचो, कालाबाजारी करो. इन्हें कोई हक नहीं है, किसी से पूछने का कि तूने पुरस्कार क्यों ले लिया.

ये ऐसा करते भी हैं, मगर नैतिकता, लेखकीय स्वतंत्रता और व्यवस्था विरोध का हल्ला भी यही ज्यादा करते हैं. गांव का सबसे दुराचारी सरपंच कहता फिरता है कि लोगों का चाल-चलन ठीक नहीं है.

अब 'सत्ता प्रतिष्ठान'. प्रतिष्ठान एक नहीं है. राजनैतिक प्रतिष्ठान के सिवा आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक प्रतिष्ठान भी तो हैं. स्वाधीन भारत में लेखक की स्वाधीनता, अस्मिता, व्यक्ति स्वातंत्र्य प्रतिष्ठान से असहयोग आदि की बात उठने लगी थी. १९५२-५३ से सन् १९५७ में प्रयाग में लेखकों का एक सम्मेलन हुआ था. इसके प्रेरणा व्यक्तित्व अज्ञेय और डा. लोहिया थे. जो बुजुर्ग हो गये हैं, वे प्रयाग के युवा लेखक एक साथ अज्ञेय और डा. लोहिया के भक्त थे. अज्ञेय तब प्रौढ़ थे और अब वयोवृद्ध हैं.

सच यह है कि यह राजनीतिक सम्मेलन था, साहित्यिक नहीं. डा. लोहिया और उनके चेले घोर नेहरू विरोधी. अज्ञेय समाजवाद विरोधी. नेहरू समाजवाद की बात बार-बार करते थे, और यह भी कहते थे कि मेरा मतलब वायवी, भावात्मक, समाजवाद नहीं, वैज्ञानिक समाजवाद है. पहली योजना में सार्वजनिक उद्योग क्षेत्र खुल गया था. दूसरी योजना में उसका विस्तार हो गया था या होने वाला था. 'इंडस्ट्रियल पालिसी रेजूल्यूशन' १९५५ में संसद में पारित हो गया था. 'मोनोपली' पर नियंत्रण का कानून बनने वाला था या बन चुका था. प्राइवेट उद्योग क्षेत्र को सीमित करना शुरू हो गया था. राष्ट्रीयकरण चालू हो गया था. नेहरू ने गुट निरपेक्षता की नीति पक्की कर दी थी. सोवियत रूस से मित्रता अच्छी हो गयी थी. भारत के अमेरिकी गुट में शामिल होने की संभावना खत्म हो गयी थी.

इसलिए यह शोर था कि व्यक्ति की स्वाधीनता खतरे में है, लेखक की स्वाधीनता की रक्षा होनी चाहिए. लेखक सत्ता प्रतिष्ठान विरोधी होना चाहिए. संस्कृति की रक्षा करनी चाहिए. और संस्कृति की रक्षा नेहरू विरोध से होगी जो 'प्राइवेट सेक्टर' पर बंदिश लगा रहा है और रूस से दोस्ती बढ़ा रहा है.

वैज्ञानिक समाजवाद का विरोध और प्राइवेट उद्योगों तथा पूंजीवादी विकास के समर्थन का अर्थ था—संस्कृति की रक्षा! ये सारे भोले-भाले 'लघु मानव' पीड़ित लोग राजीतिक और आर्थिक कारणों से तीर्थराज में एकत्र हुए थे. या घेरे गये थे. तभी से 'प्रतिष्ठान विरोध' नारा चल रहा है—हालांकि लेखक अच्छी सरकारी नौकरियों में जाते रहे, सरकारी पुरस्कार पाते रहे, किताबें कोर्स में लगवाते रहे, फेलोशिप पाते रहे, विश्वविद्यालयों और सरकारी कालेजों में ऊंचे वेतन लेते रहे. गुरु-पत्नी के लिए सोने की चेन लेकर झूठी पी-एच. डी. दिलाते रहे.

मैं इसे बिल्कुल बुरा नहीं मानता. कोई लेखक कबीरदास और कुंभनदास की तरह नहीं रह सकता. नौकरी करना उसकी जरूरत है. उसे अपना और बच्चों का पेट भरना है. कविता लिखने से पेट नहीं भरता. उसे अच्छी तरह जीना है.

मगर यह हर बार का शोर क्यों—वह लेखक बिक गया. उसने पुरस्कार ले लिया सरकार से. वह सत्ता प्रतिष्ठान से मिल गया.

मैं विनम्रता से पूछता हूं—आप किससे मिल गये? या किससे मिलना चाहते हैं. अमेरिकी फेलोशिप लेकर पूर्व की संस्कृति का अध्ययन करके भारत को असभ्यों का देश बताना किस शक्ति के हाथ टुकड़े-टुकड़े होकर बिकना है. यह बिक्री होती रही है, या नहीं?

इस देश में संसदीय लोकतंत्र है. इसे सबने मान लिया है. फासिस्टी हिंदू राष्ट्र वालों की राजनीतिक पार्टी भारतीय जनता पार्टी ने भी और वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता मे विश्वासी कम्यूनिस्ट पार्टियों ने भी. कम से कम रणनीति के रूप में या वास्तविकताओं की समझ से संसदीय लोकतंत्र मान लिया है. इसमें राज्यों में और केंद्र में निर्वाचित सरकारें हैं. 'सत्ता प्रतिष्ठान' का अर्थ सिर्फ इंदिरा गांधी नहीं है. सत्ता प्रतिष्ठान का अर्थ एन. टी. रामराव भी है, ज्योति बसु भी है, अर्जुनसिंह भी है, फारुख अब्दुल्ला भी है. ये सब जनता द्वारा निर्वाचित सत्ता प्रतिष्ठान हैं. इनके राज्यों की स्वायत्तता प्राप्त अकादमियां पुरस्कार देती हैं. केंद्र में 'साहित्य अकादमी' भी है. सब जानते हैं कि इनकी स्वायत्तता सीमित हैं.

अब अगर किसी लेखक को किसी सरकार की अकादमी पुरस्कार देती है, मगर उस लेखक को वह सरकार पसंद नहीं है तो वह पुरस्कार लेने के कारण बताकर इनकार कर दे. या यदि वह किसी राजनीतिक दल या लेखक संगठन में है तो उस दल या संगठन का आदेश मानकर पुरस्कार ले ले या इंकार कर दें. ज्यॉ-पॉल सार्त्र ने नोबल पुरस्कार नहीं लिया और इनकार के कारण बता दिये. यहां आपातकाल लगाने के कारण जिन लेखकों ने सन् १९७७ से १९८० तक की 'सुरक्षित' अवधि में इंदिरा गांधी और कांग्रेस को लगातार गालियां दीं, उन्हें केंद्र की सरकार के और कांग्रेस शासित राज्यों के पुरस्कार कभी नहीं लेना चाहिए. उन्होंने इंदिरा गांधी को क्रूर, डिक्टेटर, हत्यारी, खून से रंगे हाथों वाली कहा था. मगर ये सूरमा ले रहे हैं. तर्क देते हैं—यह तो जनता का पैसा है.

मैं यह मानता हूं—जैसा किसी ने अभी लिखा है—कि लेखक यह कहकर बरी नहीं हो सकता कि पुरस्कार मेरे व्यक्तिगत लेखन पर मुझे व्यक्ति की हैसियत से मिला है. समाज मुझसे कैफियत नहीं ले सकता. हालांकि लेखक को किसी अदालत में खड़ा नहीं किया जा सकता. फिर भी उससे पूछा जा सकता है कि तुमने इस अत्याचारी जन-विरोधी सरकार से पैसा क्यों लिया? बाहर से कोई चाहे जोर से नहीं पूछे, पर उसके भीतर यह सवाल उठेगा—जो बाहर की प्रतिध्वनि है.

इस समय सत्ता का अर्थ सिर्फ इंदिरा गांधी हो गया है, हालांकि आधे देश में उनकी पार्टी का राज नहीं है. यह हास्यास्पद है कि एन. टी. रामराव,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामकृष्ण हेगड़े, फारुख अब्दुल्ला भी इंदिरा गांधी समझे जाते हैं. रामराव का दिया पुरस्कार भी इंदिरा गांधी का दिया मान लिया जायेगा. लेखक कोई सीधे, संत प्राणी नहीं हैं जो 'मानवतावाद' की पवित्र चादर ओढ़े हैं, वे भी किसी न किसी राजनीति से जुड़े हैं. ये काफी काइयां लोग हैं. इनमें अधिकतर उस राजनीतिक गठबंधन से जुड़े हैं जो १९७७ में 'जनता पार्टी' था व अब जिसके दो अलग-अलग मोर्चे हो गये हैं. इन्हें इस देश का हर पुरस्कार इंदिरा गांधी का दिया मालूम होता है. ये राजनीतिक कारणों से लेखकों से मांग करते हैं कि सत्ता प्रतिष्ठान का विरोध करो. अगर पुरस्कार लोगे तो पतित हो जाओगे. सवाल है—अगर प्रधानमंत्री अटलबिहारी बाजपेयी, चंद्रशेखर, चरणसिंह, मोरारजी में से कोई हो जाये, तब भी ये सिद्धांत से यही रुख अपनायेंगे? ये तो अभी भी पुरस्कार ले रहे हैं और नारा बहिष्कार का लगा रहे हैं.

फिर हैं वे जिन्होंने यह मान लिया है कि सच्चे वामपंथी और मार्क्सवादी हम कुछ लोग ही हैं. बाकी झूठे और पतित और बिके हुए वामपंथी हैं. इनकी शत्रु नंबर एक वही राजनेत्री हैं. ये भी कंठ फाड़कर सत्ता प्रतिष्ठान विरोध के नारे लगाते हैं. पुरस्कार लेने वाले या अपनी किताब सरकार को बेच देनेवाले लेखकों से ये सार्वजनिक नफरत करते हैं. पर खुद क्या करते हैं?

दोनों तरह के इन वीरों का आचरण देख लेना अच्छा होगा. एक प्रतिष्ठित कवि हैं. गांधीवादी हैं. आपातकाल में एक साहित्य सम्मेलन में उनका भी सम्मान करना था. वे नगर में आ गये थे. पर वे सम्मान कराने नहीं आये. बोले, "मंच पर कांग्रेसी होंगे. मैं इंदिरा से और इन कांग्रेसियों से नफरत करता हूं. जिस मंच पर ये होंगे, मैं नहीं जाऊंगा."

मगर इंदिरा गांधी की पार्टी की अर्जुनसिंह सरकार ने जब उन्हें २१ हजार का पुरस्कार दिया, तो वे भोपाल आ गये और गद्-गद् होकर ले लिया. आनंदाश्रु ढल रहे थे. पहले वाला सम्मान जिसे उन्होंने कांग्रेस के कारण ही अस्वीकार किया था, फूल माला और श्रद्धा का था, धन नहीं था. कभी-कभी प्राप्ति कम होने से भी आत्मा में मानव गरिमा गर्दन ऐंठने लगती है.

और एक घटना. एक अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन में प्रदेश के मुख्यमंत्री स्वागत करने आ गये. उद्घाटन या अध्यक्षता करने नहीं. कुछ लेखकों को एतराज हुआ कि हमारे मंच पर मुख्यमंत्री क्यों? यह सत्ता से समझौता है. एकाध ने तो सम्मेलन में हिस्सा भी नहीं लिया. मुख्यमंत्री ने क्रांतिकारी स्वागत भाषण दे डाला— सर्वहारा की क्रांति, भेद की दीवारें तोड़ दी जायें, इत्यादि. तो काफी लेखक खुश थे. मैंने कहा—'आप नाराज थे, तब भी गलत थे. अब खुश हैं तो भी गलत हैं. आप दूसरे प्रदेशों में विश्व-विद्यालयों में प्रोफेसर हैं या सरकारी कालेजों में. यह मुख्यमंत्री न आपका तबादला कर सकता, न आपकी तरक्की कर सकता, न आपको 'सस्पेंड' कर सकता. पर आपके प्रदेश का मुख्यमंत्री मंच पर आ जाये तो? माधवसिंह सोलंकी, विश्वनाथ प्रतापसिंह या जगन्नाथ पहाड़िया आ जाये तो? तो आप क्या करेंगे? मुख्यमंत्री दंगाग्रस्त क्षेत्र में जा सकता है, तो लेखकों के सम्मेलन में भी. अगर वह कहे कि मैं राज्य की ओर से लेखकों का स्वागत करना चाहता हूं तो आप क्या यह कहेंगे कि आप यहां से भाग जाइये. यहां आप वीरता इसलिए बता रहे हैं कि यह आपका मुख्यमंत्री नहीं है. फिर खुश होना भी गलती है. ये चतुर राजनीतिज्ञ हैं. एक ही व्यवस्था को चलाने वाले हैं.' उन्होंने कहा है—'भेद की दीवारें तोड़ दीजिये.' अब आप दीवार तोड़ने जाइये, तो यही आप पर लाठी चार्ज करायेंगे.

एक और अतिक्रांतिकारी की मुद्रावाले सत्ता विरोध की बातें करते रहे. तमाम गालियां देते रहे— 'प्रधानमंत्री मुख्यमंत्रियों, मंत्रियों को धिक्कार है. उन लेखकों को जो इन्हें मानते हैं. हमारा संगठन तो कफन लपेटकर लड़ रहा है.' मैंने कहा—'आपके विश्वविद्यालय में अगर मुख्यमंत्री आ जायें और कुलपति आपसे कहे कि इनके गुणों का वर्णन करने हुए 'मान-पत्र' लिख दीजिए, तो आप मान-पत्र लिखेंगे या नौकरी छोड़ देंगे.' वे चुप रह गये. मैंने कहा, 'मेरी सलाह पूछें तो मैं सलाह दूंगा कि आप मान-पत्र लिखें. नौकरी छोड़ देंगे तो आप अपना और परिवार का नाश करेंगे और उस 'मिशन' का भी नाश करेंगे जिसकी घोषणा आप करते हैं.'

एक और परमवीर. इंदिरा गांधी के कटु आलोचक. मंत्रियों को पतित घोषित करने वाले. कम्यूनिस्ट पार्टियों की भूलें बतलाने वाले. परम स्वतंत्र. परम अभिमानी. पर जब भी मैं मिलता, वे एक ही बात पूछते, 'पता नहीं, तुम्हारा शिक्षा सचिव मुझसे क्यों नाराज है.'

एक और लेखकों के नेता. हठी, बदजबान, बदकलम. राजधानी में वे एक लेखक सम्मेलन में सरकार विरोधी घनघोर भाषण देते रहे. दूसरे दिन शिक्षा सचिव के बंगले गये और अपनी किताबों की थोक खरीदी के लिए कहा. सचिव ने जवाब दिया, 'मैं क्या आपकी किताबें इसलिए खरीदूंगा कि आप खुद आये हैं और मुझसे कह रहे हैं. मैं तो वैसे भी खरीदता. आप महत्त्वपूर्ण लेखक हैं.'

मैं यह तो कहता नहीं कि सत्ता से समझौता करो. बिल्कुल मत करो. परम स्वतंत्र रहो. मगर यह प्रश्न बहुत जटिल है. बहुत सोच-समझ और विवेक की मांग करता है. जिसकी औकात नहीं है वह दावा मत करो. सार्वजनिक आचरण और प्राइवेट आचरण उलटे मत करो.

करना है तो करो. पर फिर 'पर उपदेश कुशल' होने की एक और तकलीफ क्यों करते हो? बड़ा पसीना आता होगा आत्मा को यह दंड-बैठक लगाने में. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पराजित योद्धा • सुरेंद्र सुकुमार

क्या हमारे देश की मांओं के वात्सल्य ने उस देश की मां के गोली खायी, या हमारे देश की बहनों के स्नेह ने उस देश की बहन से बलात्कार करवाया? कैसे बन गये हम दरिंदे? क्यों नहीं पड़ी हमारे कानों में भाई... भाई जान की आवाज? हमारे देश की बहनों की राखियां क्यों नहीं कर पायीं रक्षा उस देश की बहन की? युद्धोन्माद और फौजी वहशीपन का प्रतिकार करती एक सार्थक रचना—

गांव भर में चर्चा है. लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं. कोई कहता है फौजी को ज़हर दिया गया है. कोई कह रहा है फौजी ने आत्म हत्या की है. कोई कहता है फौजी अपनी मौत मरा है. जोगी बाबा का क्या मत है यह मुझे नहीं मालूम. उनके पास जाने का साहस भी मुझमें नहीं है. जैसा कि होता है मरने के बाद व्यक्ति की अच्छाइयों, बुराइयों की चर्चा होती है, ठीक वैसे ही लोग कह रहे हैं... "कुछ सही साब दिल को भलो हो फौजी" "औगुन तो बामें भौत हे पर सांच कूं सांच कहन में कबहूं पीछे नाय रहो" "हतो जी दार" "जी दार नांय होतो तो फौज में चौं जातो"... "होस में तो वो कभऊं नांय रहो. शरीर में घुन लगाय लओ बाने."..."कहु सनकीऊ हो." सनकी कायकूँ पागल कहो पागल, पागल नांय होतो तो फौज की नौकरी कायकू छोड़ के आतो, घर की जमीन में आग लगाय हे तो, कैसी सोने सी जमीन सब की सब ढकोस गयो सराब में," "छोड़ो मरिबे बांर की कहा बुराई करो हे भगवान वाकी आत्मा कूँ शांति दे"..."भइया जाकूँ कहत हैं घरकी ललक मरिबे से दस दिन पहले आय गयो अपने घर, अपने पुरखनके घर में ई पिरान तियागे."

गाँव वालों का फौजी.....जोगी बाबा का सुजान..... और फौज की राजपूत रेजीमेंट का हवलदार सुजान सिंह अपनी अंतिम यात्रा पर निकल गया. आज भी उसका एकमात्र प्रिय शेर कानों में गूंज रहा है.

ज़िंदगी फानी ही ठहरी तो फिर डरना कैसा,
एक न एक दिन हंगामा हुआ रक्खा है.

और हंगामा हो गया. न विगुल बजा न राष्ट्रीयगान, न प्यार मिला न सम्मान. बस, दो चार लोग शामिल थे. राजपूत रेजीमैंट के हवलदार सुजान सिंह का कफन भी चंदे से आया. इस समय भी उसका वही पुराना प्रश्न, जो ज्यादा नशे में मुझसे झकझोर के पूछा करता था, कानों में बज रहा है. आज भी मैं उसका उत्तर तलाश कर रहा हूं,'बताओ,मुझे बताओ... प्यार... नफरत कैसे पैदा कर देता है,' मैं लोगों को जवाब देना चाहता हूँ कि न तो सुजान पागल था, न सनकी. मैं लोगों को बताना चाहता हूं कि उसने फौज की नौकरी क्यों छोड़ी, मैं जोर-जोर से कहना चाहता हूँ कि न तो उसने आत्महत्या की, न वो अपनी मौत मरा, उसने बदला लिया है बदला, स्वयं से, समाज से, व्यवस्था से... अपने आपको धीरे-धीरे नष्ट करके. पर मैं चुप हूँ अपराध बोध से ग्रसित भी. मैं ही उसके लिए क्या कर पाया. उसकी मौत तक की खबर मुझे तब लगी, जब उसका शरीर आग की लपटों से लिपटकर बुझ चुका था.

सुजान को पहली बार मैंने तब देखा, जब 'छोटी' को पुलिस पकड़ कर ले जा रही थी. हमारे इस छोटे से कस्बे में छोटी का भी एक अलग इतिहास है. छोटी एक विधवा औरत है. अपने पति के मरने के बाद उसका धंधा चला कर अपने बच्चों का पेट पाल रही है. धंधा क्या है, पास गांव से कच्ची शराब लाकर बेचना, है तो जोखम का काम, पर पुलिस को 'महीना' देकर बची रहती है. उन दिनों शायद कोई नया थानेदार आया था उसने 'महीने' के अलावा छोटी से 'कुछ और भी' लेना चाहा था, पर छोटी नाम की छोटी जरूर थी, चरित्र की बड़ी थी. गालियाँ देकर चली आयी. बस, दूसरे दिन ही पुलिस ने उसे धर दबोचा. छोटे किन्तु भरे बाज़ार में पुलिस उसे मारते हुए ले जा रही थी. बाज़ार के सारे लोग तमाशा देख रहे थे कि तभी कहीं से भीड़ में अनायास वो प्रकट हुआ, बड़ी-बड़ी लाल सुर्ख आंखें, छल्लेदार मूछें, उन्नत ललाट, कमानदार भौंहे, गेहुंआं रंग, खड़ी ऊंची उठी लंबी नाक, माथे पर पड़े बिखरे बाल, चौड़ा सीना, लंबा कद... गंदी-सी खादी पैंट, पैंट के ऊपर लटकती कमीज, चेहरे पर क्रोध... रोब...

"खबरदार, जो किसी ने छोटी के ऊपर हाथ उठाया. अभी खून खराबा हो जायेगा." वो हाथ में लठ्ठ लिये हुए था. भीड़ में सन्नाटा खिच गया. सिपाहियों के हाथ थम गये. छोटी रो रही थी, गालियाँ दे रही थी, "हमने माना कि छोटी गलत काम करती है पर कौन दूध का धुला है. उसे बंद कर दो पर एक बेसहरा औरत की बेइज्जती हम पर सहन नहीं होगी. खड़े-खड़े तमाशा देख रहे हो हिजड़ो, तुम्हारी आँखों में जरा भी शर्म है. डूब मरो चुल्लू भर पानी में." बाजार वालों पर वो चीखा. "भागो सालो पुलिस के कुत्तो, छोटी नहीं जाएगी, छोटी को ले जाने से पहले सुजान को जमीन पर बिछाना होगा." और उसने देखते-देखते छोटी का हाथ पकड़ कर खींच लिया. एक सिपाही ने डंडा उठाया ही था कि सुजान का लठ्ठ उसके हाथ पर पड़ा, "कुत्तो, वैसे तो रोज छोटी का पेशाब शराब समझ कर पी जाते थे." और फिर सुजान ने रौद्र रूप धारण कर लिया. भीड़ छंट गयी. सिपाही भी खिसक गये. छोटी अपने घर चली गयी. मात्र सुजान खड़ा-खड़ा बाज़ार में गालियाँ देता रहा. सुजान शराब के नशे में धुत था. उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आंखों में लोगों के प्रति नफरत थी. बेहद घृणा का भाव. फिर उसने लोगों को गालियाँ देते हुए जमीन पर थूक दिया और डगमगाते हुए एक तरफ चला गया. उसके जाते ही लोग फिर जमा हो गये. अब अहम् के कुचैल लोग सुजान के प्रति नफरत उगल रहे थे, "इतनी मिलती नहीं है तो पीता क्यों है." "हर काम में टांग अड़ानो तो जाको काम ई बन गओ ए."... "फौज में कहा रह लओं ए खुद हूँ बादशाह समझत ए."..."पुलिस से अटको ए अब आयगीं अकल ठिकाने" " जेई ढंग नांय होते तो अपनौ गाँव चौं छोड़ के आतो" "अब झाँ रोज-रोज जेई झंझट पड़ेगी." "कहाँ रहन लगों ए अब जे ?" "अरे भई लच्छू पंडित के कमरा में"..."चलो जेऊ ठीक रई, कोढ़ में खाज मिली, उनेऊँ कमऊँ-कमऊँ पीवे कूँ मिल जाओ करेगी." "साव है जे भौत गल्त बात, बाज़ार में सवै गाली दै." "अरे पुलिस के मामले में हम कहा बोलें." लोग अपना-अपना नपुसंक आक्रोश निकाल रहे थे, पर उसके समक्ष सब चुप रहे. कुछ भी सही, मुझे सुजान का यह रूप बहुत भाया था. उसी दिन मुझे यह मालूम पड़ा था कि सुजान पास के गाँव रामगढ़ का रहने वाला है. कभी फौज मे रहा था. अक्खड़ है, शराब पीता है. गाँव वालों की नफरत का पात्र है, स्पष्ट वादी है. पता नहीं क्या था इस घटना के पीछे, वो मेरी जिज्ञासा का पात्र बन गया. मैंने जिस किसी से भी सुजान के विषय में पूछा, केवल नफरत के कुछ शब्द सुनने को मिले. आखिर कैसा है यह व्यक्ति, क्यों नफरत झेल रहा है सबकी! क्यों इतनी शराब पीता है ? क्यों छोड़ी उसने फौज की नौकरी, क्यों बन

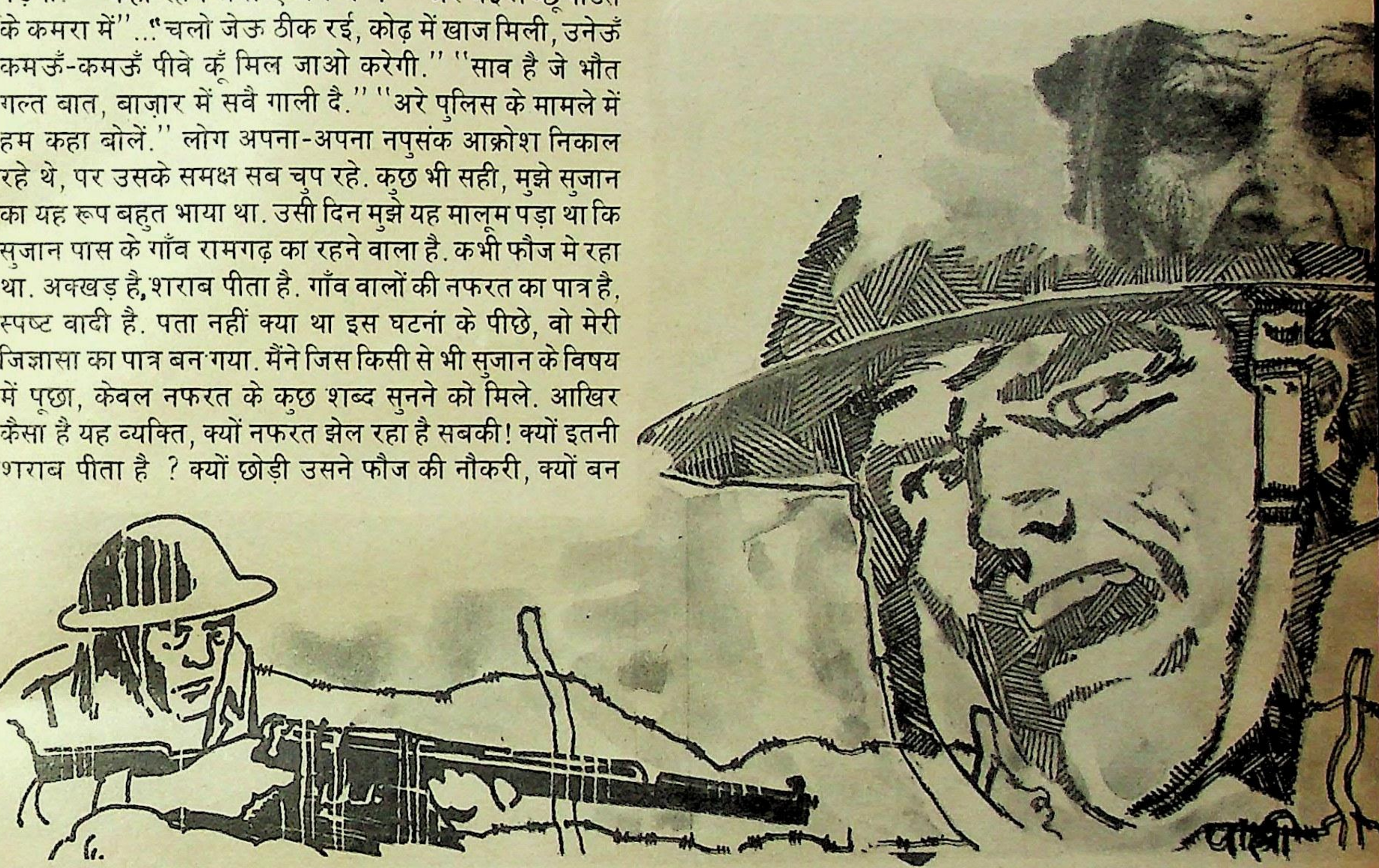

गया सबकी नफरत का पात्र. इन्हीं प्रश्नों के उत्तर की तलाश में एक दिन मैं लच्छू पण्डित के कमरे के सामने पहुंच गया.

"मैं अंदर आ सकता हूँ ?"

"कौन है, नहीं... बिल्कुल नहीं आ सकते."

"मुझे आपसे कुछ बातें करनी हैं."

"मुझे किसी से कोई बात नहीं करनी, मैं किसी से नही मिलना चाहता."

"सुनिए तो..."

क्यों दिमाग-पच्ची करते हो! जाओ, मैं कहता हूँ जाओ आ जाते हैं न जाने कहाँ-कहाँ से जीने नहीं देते ढंग से... जोगी बाबा ने भेजा होगा... कह देना, सुजान को भूल जाएं, सुजान मर गया है, उसके कान बहरे हो गये हैं, वो किसी की नहीं सुनता. कह देना, सब सुजान से नफरत करते हैं, वो भी करने लगें. वो भी मुझे सुजान नहीं, फौजी समझें. मैं भूल जाना चाहता हूँ, सुजान को राजपूत रेजीमेंट के हवलदार सुजान सिंह को. मैं फौजी हूँ. शराबी... केवल शराबी... जाओ... भागो... कह देना... हाँ, यही कह देना."

ठहरना मेरे लिए दुश्कर था. सुजान शराब के नशे में था. हाँ, जोगी बाबा एक नाम मेरे मस्तिष्क में कौंध गया. जोगी बाबा रामगढ़ के पुल के पास रहते हैं, वहीं उनकी कुटिया है. बरसों हो गये, उन्हें वहाँ रहते, बहुत स्वाभिमानी, बड़े रहमदिल. बेहद स्नेहिल मैं पहले भी उनसे दो-चार बार मिला हूँ. अब तो जाना ही पड़ेगा. शाम को ही जोगी बाबा की कुटिया में पहुँच गया.

बड़े ललक से मिले, "बड़े दिनों में आये. कभी-कभी घूम जाया करो. और सुनाओ, कैसा चल रहा है ?" इधर-उधर की बातें होती रहीं, पर मेरा मन तो सुजान के प्रसंग में लगा था.

"जोगी बाबा, सुजान तो आपके पास बहुत बैठता था न!"

"हाँ, सुजान यहाँ जिया था." मैंने देखा जोगी बाबा के चेहरे पर वेदना उभर आयी थी.

"फिर क्या हुआ, अब क्यों नहीं आता ?"

"पता नहीं." मुझे स्पष्ट लगा कि जोगी बाबा सुजान की बात करने से बचना चाहते हैं, शायद सुजान को कहीं भीतरी तह में छुपा रखा है उन्होंने.

"क्यों जोगी बाबा, सुजान सबसे इतनी नफरत क्यों करता है ?"

"बेटा! जो बोओगे, वही तो काटोगे, सुजान को लोगों ने क्या दिया सिवाय नफरत के. नहीं तो सुजान दिल का बुरा नहीं है हीरा है, एक दम हीरा. लोग उसे समझ नहीं पाये. पर तुम सुजान के विषय में क्यों पूछ रहे हो ?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैंने बिना लाग लपेट के कस्बे वाली पूरी घटना बतायी. यह भी बताया कि मैंने उससे मिलना चाहा, पर वो नही मिला. पूरा प्रसंग सुनने के साथ-साथ उनके चेहरे पर कई बार क्रोध, जिज्ञासा एवं स्नेह के भाव आये. अंत में उनकी आँखें भीग गयीं, ''तो सुजान आजकल किशनगंज में है, वहाँ भी क्या मिलेगा उसे ? कोई उसे क्या दे पाया. कुछ भी नहीं. लोगों ने उसे नफरत दी. समाज ने उसे कुत्ते से भी बदतर जिंदगी जीने को दी. फौज ने कुछ तमगे दिए, जो उसने इसी धूनी के हवाले कर दिए. और मैंने भी क्या दिया सिवाय प्रेम का भुलावा और भांग का नशा. मैं भी दोषी हूँ भइया मैं भी, हाँ तुम समझदार हो, पढ़े लिखे हो, आजकल वो तुम्हारे कस्बे में है, तुम चाहो तो उसे जमा सकते हो. तुम्हारी उसमें रुचि भी है. तुम्हारा स्नेह भी है, इसलिए मैं तुमसे कह रहा हूँ बेटा, तुम यह पुन्य लूट सकते हो.

'सुजान इस गाँव में सेमल के फूल जैसा खिला था. मैं उसे तब से जानता हूँ. सुजान के पिता को मेरे ऊपर बहुत भरोसा था. आठवें में फर्स्ट डिवीजन पास होते-होते दमा के मरीज सुजान के पिता उसका हाथ मेरे हाथ में सौंप कर चल बसे थे, कहा था, 'लेओ महाराज, संभारियों जाय. अब जाय, आदमी बनाओ तुमाओ काम ए.' क्या जबाव दूंगा ऊपर जाकर सुजान के पिता को कि तुम्हारे बेटे को आदमी तो दूर हैवान भी नहीं बना पाया. सुजान के पंद्रह बीघा खेत बटाई पर उठाकर सुजान की पढ़ाई और बूढ़ी मां का पेट चला. हाई स्कूल में सुजान की फर्स्ट डिवीजन आयी तो मेरा सीना चौड़ गया. पूरे गाँव में ऐसा युवक कोई नहीं निकल रहा था. शादी वाले आने लगे थे. मैंने बहुत मना की. पर सुजान की माँ जिद पकड़ गयी, 'अब मेरी जिंदगी का कोई भरोसो नांय कब विरान पखेडू उड़ जायं, बहू कौ मूँ देख कै मरूंगी तो चैन मिलेगा.' सब ओर से दबाव पड़े तो सुजान की शादी हो गयी. बहू भी चंद्रमा-सी आयी. मुझे तसल्ली हुई थी कि गौना तीन साल बाद का छंटा था. मेरी बड़ी हुमस थी कि सुजान आगे पढ़े, पर सुजान को तो देशसेवा का भूत सवार था. मेरे पास वो नित्य कुछ देर के लिए आता, मेरे पास से उसने उसी जमाने में ढेर सी वो कथाएं पढ़ लीं थीं. यहीं बैठ जाता था, जहाँ तुम बैठे हो, अभी कल ही की बात लगती है.'' बोलते-बोलते जोगी बाबा उसी जमाने में चले गये. गुम-गुम से बैठे रहे. आँखें एकदम भीग-सी गयी थीं. स्वर भी भारी पड़ गया था. मुझे जिज्ञासा थी आगे की बात सुनने की, पर वो चुप बैठे रहे. मैंने भी उन्हें नहीं छेड़ा. काफी देर में स्वयं को स्थिर करके उन्होंने बोलना प्रारंभ किया.

'जो उम्र लड़कों की गिल्ली डंडा खेलने की होती, उस उम्र में वो शिवाजी, महाराणा प्रताप, गुरु गोविंद सिंह आदि की कहानियाँ पढ़ा करता था. कैसा शांत, गंभीर एवं शिष्ट था सुजान, आज कल्पना भी नहीं की जा सकती. असल में सुजान को फौज ने खाया. अगर सुजान फौज में नहीं जाता तो उसका यह हस्र कभी भी न होता. पर फौज में जाता कैसे नहीं, फौज तो उसके मन को बार-बार खींच रही थी. देश पर दुश्मनों के आक्रमण की संभावना थी, सरकार की अपीलें आ रही थीं कि सेना में भरती होकर देश की सेवा करें. बस, सुजान एक दिन शहर जाकर भर्ती की लाइन में लग गया. भर्ती हो गया, घर आया. सबने बहुत रोका.सुजान की मां फूट-फूट कर रोई थी. एक ही तो लड़का था उसके, पर सुजान पर किसी का असर नहीं पड़ा. अपनी धुन का तो वो तभी का पक्का है. मैंने भी उसे समझाया था—कि देश सेवा से बड़ी मानव सेवा है, वही करना, पर उस पर किसी बात का असर नहीं पड़ा. बहुत ही उत्साहित था, चला गया. फौज में जाकर उसका शरीर और भी निखरा था.

'गौने पर जब आया था एक महीने की छुट्टी, तो उसका शरीर देखते ही बनता था. पूरे गाँव में ऐसा बांका जवान कोई नहीं था. जब वह पिता बनने वाला था... मैंने सुजान को पत्र लिखा, मैं यहाँ बैठे-बैठे ही उसकी प्रसन्नता का अनुमान लगाता रहा. उत्तर में उसने अपने साथियों के, अपने रहने-सहने के समाचार लिखे. उसकी शिष्टता से मन पुलक उठा था. पूरे दिन होने को आए थे तो फिर मैंने उसे पत्र लिखा कि छुट्टी लेकर आ जाये. उसने उत्तर दिया, ''सीमा पर दुश्मनों की हलचल है, ऐसे में छुट्टी मिल भी नहीं सकती और मैं लूंगा भी नहीं. आप लोगों के रहते कोई फिकर नहीं सब, ठीक हो जाएगा. शुभ सूचना शीघ्र देना.' और बेटा! वो शुभ सूचना....' जोगी बाबा की आँखें टपकने लगीं...

'एन वक्त पर यहाँ दायी ने बताया कि बच्चा उल्टा है. मां बच्चे दोनों को खतरा है. शहर ले जाओ. हमारे तो हाथ पैर ही फूल गये. मरता क्या न करता! बेटा गाँव की दो चार औरतें सुजान की माँ और मैं... बस में लिटा कर उसे शहर ले गये. पूरे रास्ते भर वो चीखती रही, दर्द से छटपटाती रही, उसका कष्ट देख कर कलेजा मुंह में आता था, पर हमें कंपाउडर ने बताया कि किसी प्रायवेट अस्पताल में ले जाओ, यहाँ जगह नहीं है.प्रायवेट लाइक पैसे नहीं थे, हम बहुत गिड़गिड़ाए. पर उसने एक न सुनी. अस्पताल में तीन-तीन डाक्टरनी, पर अस्पताल में एक न मिली. एक छुट्टी पर थी, एक कहीं दौरे पर थी, एक अपने क्वाटर में. हम डाक्टरनी के सामने घिघियाए. उन्होंने भी मना कर दिया. देखने तक नहीं आयीं. बोलीं, हम घर पर देखने की फीस लेते हैं. हमने कहा, यह फौजी की पत्नी है, इसका आदमी सीमा पर देश

मूल्य

□ रमेश सैलानी

लगातार 22 वर्षों तक साहित्य-सेवा के बाद भी लेखक के रूप में उनका स्थान नहीं बन पाया था. एक कहानी-संग्रह प्रकाशित होने के बाद ही, प्रकाशक ने हाथ जोड़ लिये थे. ढलती उम्र की निराशाओं तले दबे उनके झुर्रीदार चेहरे को देखकर एक मित्र को उन पर दया आ गयी. मित्र ने स्वयं खर्च वहन करके उनका नया उपन्यास प्रकाशित करवाया और एक रिश्तेदार की सहायता से उस उपन्यास पर 'व्यक्तिगत आक्षेप' का मुकद्दमा दायर करवा दिया.

मुकद्दमे के दौरान उपन्यास की काफी चर्चा हुई. व्यक्तिगत-आक्षेप साबित न हो सका और आज उनकी गिनती लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकारों में की जाती है. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सुरक्षा कर रहा है. आप इसकी सुरक्षा नहीं कर सकतीं. बोली, 'मुझे भाषण मत पिलाइए जाइए मेरा तथा अपना समय मत खराब कीजिए,' बहुत गुस्सा आया. और यह सोचकर दुःख भी हुआ कि महिलाएं ही महिलाओं के दुःख को देख कर नहीं पसीज रहीं. चलो कहीं और देखें, यह सोचकर लौटा ही था कि अस्पताल के दरवाजे से आती रोने की आवाज ने पाँव और कलेजा दोनों ही थाम दिए. सुजान देश की लड़ाई लड़ रहा था. पर उसकी बहू जीवन की लड़ाई नहीं लड़ पायी. सुजान दुश्मनों की गोली से बच रहा था और उसकी बहू अपने ही देश के जीवन रक्षक डाक्टरों की गोली के लिए तरसती हुई मर गयी.

'सुजान शुभ सूचना की प्रतीक्षा करता रहा. और मैं यह तय ही नहीं कर पाया कि उसे क्या लिखूं, कैसे लिखूं, अंत में बेटा इन्हीं हाथों से उसे अशुभ सूचना लिख भेजी. सुजान की मां का तो रो-रो कर बुरा हाल था. सुजान आया, पिटा-पिटा-सा. मेरा भी साहस नहीं हुआ उससे आँखें मिलाने का. बहुत कम किसी से बोला था वह. पांच दिन रूका था एक दम गंभीर रहा. गुमसुम-सा. मन फदक उठता था. चलते समय मेरे पास आया था, 'जोगी बाबा, माँ का ख्याल रखना. मुझे तो धरती माँ की सेवा करनी है.'' मैंने कहा भी, अब घर आ जाओ, घर संभालो, पर उसने सुना था. बोला कुछ नहीं.

'एक वर्ष बाद आया था तो माँ ने, गाँव वालों ने, सबने उससे दूसरी शादी के लिए कहा, पर उसने साफ मना कर दिया, मां की उसे बहुत बड़ी तकलीफ थी कि वो मां की सेवा नहीं कर पाया. बीमारी की हालत में मैंने पत्र डाला था, पर उस समय भी सीमा पर हलचल थी. उसे वह पत्र मिल भी नहीं पाया. अपने हाथ से वो कोई भी संस्कार नहीं कर पाया: इस बार सुजान और भी गंभीर हो गया था. छुट्टी समाप्त होने को थी तो मैंने कहा था—'सुजान, अब तो गाँव वापस आ जा, फिर से जमा स्वयं को', उसने कहा, 'जोगी बाबा, अब गाँव में क्या रखा है किसके लिए आऊँ, मात्र पंद्रह बीघा जमीन. सो बाबा मुझे तो पूरी धरती ही अपनी लगती है.' छुट्टी समाप्त होते-होते चला गया. अपनी जमीन मुझे सौंपने लगा. मैंने कहा—'बेटा मुझसे उसकी देखभाल भी नहीं हो पाएगी, मुझे क्यों झंझट में फंसाते हो.' तब ठाकुर अर्जुन सिंह को जमीन सौंप दी. कह गया था, 'मेरे हिस्से की जितनी भी फसल आये उसमें पैसे जमा करते रहें. माँ की स्मृति में धर्मशाला बनाऊंगा,' पर बेटा न उसके हिस्से में पैसे आए, न ही धर्मशाला बनी.' और जोगी बाबा फिर चुप हो गये. मैं उनकी ओर देखता रहा. कुछ देर बाद वो फिर बोले, 'फिर बेटा, वो बहुत दिनों छुट्टी पर नहीं आया. कभी-कभी उसका पोस्टकार्ड आता, जिसमें मेरे स्वास्थ्य के बारे में पूछ-ताछ होती, बस. मैं भी जब कभी उसे पत्र डाल देता. तभी लड़ाई के समाचार जोर-शोर से आने लगे. पड़ोसी देश से लड़ाई छिड़ गयी थी. हम देश की चिंता के साथ-साथ सुजान की चिंता में लगे रहते. पत्र डालने पर कोई जवाब नहीं आता. जब तक लड़ाई चली, जी चैन में नहीं रहा. सोते-जागते सुजान में ही चिंता लगी रहती. गाँव-गाँव, घर-घर लड़ाई की ही चर्चा. लोग प्रधानजी के रेडियो से कान लगाए रहते. अखबार पर झपट कर पड़ते. मैं सारे समाचारों में अपने. सुजान की कुशलता खोजता. पर कुछ भी पता नहीं चलता. लड़ाई थम भी गयी. सुजान को फिर पत्र डाले, पर कोई समाचार नहीं मिला. गाँव वालों ने तो यह सोच ही लिया कि सुजान देश के काम आ गया. पर बेटा मेरा मन यह मानने को कभी तैयार नहीं हुआ. और सचमुच एक दिन शाम के झुटपुटे में गंदे से कपड़ों में पीठ पर किट बैग लादे सुजान कुटिया में आ गया. मैं तो पहचान भी नहीं पाया. ये वो सुजान नहीं था जो गाँव से गया था. ऐसा दुबला-पतला एकदम बीमार सा. धम से बैठ गया. बहुत थका हुआ-सा था. आँखें सुर्ख हो रहीं थीं. मैं झपट कर पास गया. सुजान के मुंह से शराब की बदबू आ रही थी. नहीं, यह सुजान नहीं हो सकता. सुजान कभी नहीं हो सकता. उसने तो मुंह तक धुआं भी नहीं आने दिया था. पर सच को कैसे झुठलाया जा सकता था. वो इतना होश में भी नहीं था कि उससे बातें की जा सकतीं. मैंने उसे लिटा दिया. प्रातः उठते ही वो अपने घर चला गया. मैं प्रतीक्षा ही करता रहा. शाम तक नहीं आया. दूसरे दिन भी नहीं आया तो मैं ही उधर चला गया. उसने बाहर का एक कमरा अपने रहने लायक कर लिया था. कमरे के अंदर चारपायी पर पड़ा था, 'कौन है ? अंदर मत आओ. मैं मना कर रहा हूँ—अंदर मत आओ.' वो शराब के नशे में था, मैं लौट आया. मेरा मन बहुत दुःखी थी. क्या हुआ, इसे कैसे बदल गया ? कभी नज़र पड़ जाता तो बच कर निकल जाता. लोग उसके बारे में तरह तरह की बातें करते. मैं सबकी सुनता, कष्ट होता. एक दिन बहुत सबेरे मैंने उसे घर में ही घेर लिया, 'सुजान आखिर यह सब क्या है ? क्या गति बना रखी है ? क्यों दरिदा बन गये हो, आदमियों की तरह क्यों नहीं रहते, क्या नौकरी छोड़ आये हो ? ' रात की खुमारी बाकी थी. मुंह से बदबू आ रही थी, 'जोगी बाबा! आदमी दरिंदा बनता नहीं है, उसे बनाया जाता है. उसे दरिंदा बनने पर विवश किया जाता है. अपना सुजान मर गया है. जोगी बाबा, आप कृपया चले जाएं, यहाँ से मैं अब इस लायक नहीं कि आपके चरण भी छू सकूं.''

'एक अजीब बात यह थी कि उसे 'फौजी' शब्द से नफरत हो गयी थी. और गाँव वाले उसे 'फौजी' कह कर ही संबोधित करते, कई बार उसकी इस बात पर तू-तू मैं-मैं भी हुई थी, 'मैं फौजी नहीं हूँ, मैं सुजान हूँ, मुझसे सुजान क्यों नहीं कहते. मुझे 'फौजी' शब्द से नफरत है.' मैं उस परिवर्तन को भी जानता चाहता था, पर कभी भी उसने इस बात पर उंगली नहीं रखने दी. कुछ महीने में ही सुजान की अपनी पूंजी निपट चली. तो वो ठाकुर अर्जुन सिंह के पास गया और अपनी जमीन का हिसाब मांगा. ठाकुर ने सौ-डेड सौ रुपए थमाए. कहा, बहुत नुकसान हुआ है तुम्हारी जमीन में. रुपए देखकर सुजान का खून खौल उठा. काफी कहा-सुनी हुई, नौबत लाठी आ गयी. सुजान के काफी चोट आयी. मुझे खबर लगी, मैं सुजान को कुटिया पर उठा लाया. सुजान काफी क्रोध में था, 'मैं अर्जुन सिंह से बदला लूंगा, कत्ल करूंगा.' वो उठते-बैठते बड़बड़ाता. मैंने उसे किसी प्रकार शांत किया. कई दिनों उसकी सेवा की तब कहीं उठने बैठने लायक हो गया. जरा ठीक होते ही वह कुटिया से भागने की सोचने लगा. मैं समझ रहा था, शराब की तलब उसे पागल बनाये है. मैंने उसने शराब से बचने के लिए भांग घोटकर पिलाई. भांग में तो वो ऐसा रमा कि उसकी काया ही बदल गयी. बहुत शांत हो गया था. बड़ी लगन से उसने अपनी जमीन कटाई. एक फसल अच्छी ले भी ली. मुझे सुजान के इस परिवर्तन पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत ही प्रसन्नता होती. पर यह प्रसन्नता ज्यादा दिन नहीं चली. गेहूँ की फसल जब पक कर तैयार हुई तो देखते ही बनती थी. इलाके भर में उसके से गेंहू किसी के नहीं थे. वो घण्टों अपने खेत पर बैठा रहता, हवा चलती तो गेहूँ की बालियाँ कानों के झुंझनों की तरह से बजने लगतीं. वो कहीं खो जाता. फसल कट गयी. खलिहान बन गया कि एक रात पता नहीं कैसे उसके खलिहान में आग लगी. थोड़ी देर में ही सब स्वाहा. सुजान एकदम पगला गया. उस दिन उसने शराब पी और खूब गालियाँ बकीं, 'अर्जुन सिंह ने ही यह सब कराया है, बदला लूंगा, कई बार वो ठाकुर की हवेली तक गया भी, पर लोगों ने पकड़ लिया. ऐसे में प्रधान विक्रम सिंह ने उसे सहारा दिया. प्रधान की अर्जुन सिंह से पुश्तैनी दुश्मनी थी, पर प्रधान का सहारा उसके लिए और भी घातक रहा. प्रधान उसकी उपर से मदद करते रहे, उसे शराब पिलाते रहे तथा उसकी जमीन भी जुतवाने लगे. सुजान को जब भी ऊपर की जरूरत पड़ती, प्रधान दे देते. अब सुजान का ढर्रा एकदम बदल गया था. दिन भर नशा करता शराब का, भांग का और अब चिलम भी उसके मुंह से लग गयी थी. मैं देखता, मेरी छाती फटती. मुझे कभी भी वो बात करने की स्थिति में नहीं लगता. सुनने में यह भी आया कि प्रधान ने उसकी पांच बीघा जमीन अपने नाम करा ली है. अभी पंद्रह दिन पहले मैंने उससे कहा था, 'सुजान मुझसे अब यह सब नहीं देखा सुना जाता, अब तो भगवान मुझे उठा ही ले.' थोड़ी देर चुप रहने के बाद वो बोला, 'अब आप मुझे यहाँ नहीं देखेंगे. मैं स्वय इस गाँव से उकता गया हूँ' और उसके बाद बेटा! वह यह गाँव छोड़कर चला गया.

'संयोग से तीसरे दिन ही छोटी के घर पर सुजान से भेंट हो गयी. वो शराब पी रहा था. मैंने भी उसके साथ शराब पी. फिर पता नहीं, कब मैं और सुजान निकट आ गये. प्रेम में जुड़ने के क्षण याद नहीं रहते, हाँ अलग के क्षण भुलाए नहीं जा सकते. न जाने कैसे मेरा अधिकांश समय उसके साथ कटने लगा. वो दिन रात नशा करता भांग का, शराब का, चिलम का. मैं उससे थोड़ा कम करने के लिए कहता तो कभी मस्ती में वो शेर पढ़ता... 'जिंदगी फानी ही ठहरी...' और यदि अच्छे मूड में नहीं होता तो कहता, 'देखो मेरे मामलों में दखल मत दिया करो.' पर मुझे तो दखल देना था समय की प्रतीक्षा भर थी. मैं उससे निरंतर कहता, देखो अपना जीवन गँवाओ मत. फिर से स्वयं को जमाओ. कभी-कभी वो कहता, अच्छा बताओ क्या करूं? केवल दस बीघा जमीन बची है, यदि मैं उसे करवाऊँ भी तो कैसे कहाँ से पैसे आयेंगे जमीन करने के लिए. मुझे इसी बात की खुशी होती कि वो कम से कम इस विषय पर सोच तो रहा है. एक बार अच्छे मूड में मैंने उससे पूछ डाला—कि सुजान फौज की नौकरी क्यों छोड़ आए. बस, एकदम उखड़ गया, 'मत करो यह सवाल मुझसे. कभी मत करना. तुम कौन होते हो पूछनेवाले! जाओ हट जाओ मेरे सामने से... भागो... मुझसे मत बोलो.'-और पास में रखी शराब गटागट पी गया.

'सुजान ने जब भी जिंदगी की बिसात नए सिरे से जमानी चाही, सदैव मात खायी. बैंक में चौकीदार की खाली जगह थी. मैंने सुजान को बड़ी मुश्किल तमाम राजी किया. 'तुम्हें तो प्राथमिकता मिलेगी. फौज में रहे हो न...' उसने कहा—'कोई प्राथमिकता अब तक नहीं मिली तो अब क्या मिलेगी, तुम भी कोशिश करके देख लो. और वास्तव में कोशिश व्यर्थ गयी. आश्वासन तो हमें बहुत मिले, पर चुनाव किसी और का हो गया बाद में पता चला, चार हजार रुपए रिश्वत में दिए गये थे. सुजान सिर्फ फीकी हंसी हंस कर रह गया था. उस दिन सुजान ने खूब भांग खायी. शाम के समय काफी भावुक हो चला था. खोया-खोया-सा बोल रहा था, 'क्या मिला मुझे. न जिंदगीं, न मौत, न प्यार, मैं तरस गया हूँ उस सुजान से मिलने के लिए जो कभी था. लोग जिस प्यार से सुजान कह कर बुलाते थे, वो शब्द ही नहीं रहे. लोगों और सुजान के बीच में 'फौजी' घुस गया है. मैं मुक्त होना चाहता हूँ उस फौजी से, उस दरिंदे से. पर मुक्त होने के बजाय मैं और भी फंसता जा रहा हूँ. पर यह फौजी वो फौजी नहीं है, जो सुजान के प्रारंभिक फौजी जीवन में था. यह वह फौजी दरिंदा है, जो बहरा है, वहशी है. यह वह फौजी है जो उस दिन घुस गया था मन में जब दुश्मन की सीमा में प्रवेश किया था, इस फौजी ने एक बेबस लाचार मां की आवाज नहीं सुनी. एक कली-सी मासूम बहन को मसल डाला. मैं मार डालूंगा इसे. इससे बदला लूंगा... बदला, मैं इसे तिल-तिल कर गला कर

वतन-परस्त

□ वासुदेव 'सिंधु भारती'

जनाब अलाउद्दीन सोफा-कम-बेड पर लेटे-लेटे ही सिगरेट से छल्ले निकाल रहे थे. विश्वसनीय नौकर ने आकर सूचना दी कि उनसे मिलने एक चीनी जासूस स्वांग तुंग आये हैं. आज्ञा मिलते ही नौकर बाहर गया और स्वांग तुंग को भीतर ले आया.

अलाउद्दीन ने उसका स्वागत किया और उसके बाद शराब का दौर चला. चौथा पेग पीते हुए स्वांग तुंग ने मियां अलाउद्दीन से फरमाया, "हमें आपके मुल्क के रक्षा मंत्रालय की कुछ कॉन्फीडेंशयल फाइलें चाहियें. यह काम आपको करना ही होगा." और उसके बाद चीनी जासूस ने उसके आगे सोने के बिस्केट की एक छोटी अटेची रख दी, "हमारी तरफ से यह तोहफा कुबूल फरमाये."

अलाउद्दीन की लार टपक पड़ी. वह हंसते हुए उठा और उस अटेची को एक हरी अलमारी में हिफाजत के साथ रख दिया तथा अपना कीमती जादुई चिराग ले आया.

उसने चिराग को हाथ में रगड़ा. उसी पल उस चिराग का जिन्न हाथ जोड़े हाजिर हो गया, "मेरे आका, हुक्म कीजिए, गुलाम आपकी खिदमत में हाजिर है!"

अलाउद्दीन ने फरमाया, "जिन्न मियां, पता लगाओ कि हमारे मुल्क के सेनापति इस समय क्या कर रहे हैं?"

"जो हुक्म मेरे आका!" और जिन्न गायब हो गया.

अभी अलाउद्दीन सोफा पर बैठ भी नहीं पाया था कि उसी क्षण जिन्न हाजिर हो गया और कहने लगा, "हुज़ूर, हमारे सेनापति मुल्क की मशहूर रक्कासा हुस्नबानो की बाहों में जकड़े हुए हैं और अन्य फौजी अफसरान शराब के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नशे में..."

"ठीक है, ठीक है." अलाउद्दीन ने बीच में ही जिन्न की बात को काटते हुए कहा, "हमें मंत्रालय की नीली अलमारी नंबर एक्स-007 में बंद पड़ी फाइल नंबर डब्ल्यू-413 चाहिए."

"अभी लाया, हुजूर!" और जिन्न फिर गायब हो गया.

अलाउद्दीन रेफ्रीजेरेटर से नयी शराब की बोतल निकाल ही रहा था कि जिन्न मुंह लटकाए हुए सामने आकर खड़ा हो गया.

"क्यों मियां, क्या हुआ?" कामयाबी हासिल हुई कि नहीं ?"

"हां कामयाबी हासिल हुई हुजूर, लेकिन सिर्फ आधी..!"

"क्या मतलब?" अलाउद्दीन ने आश्चर्य चकित होकर कहा.

"अलमारी तो ढूंढ निकाली, मगर..."

"मगर क्या ?.... जल्दी बोलो मियां!"

"फाइल नहीं मिली उसमें!"

जिन्न महोदय ने बात का खुलासा करते हुए कहा, "मेरे आका, उस कांफीडेंशियल फाइल के फर्स्ट पार्ट की स्टडी सी. आई. ए. के अफसर कर रहे हैं..."

"और फाइल का सेकेंड पार्ट कहां है?"

"के. जी. बी. के एजेंटों की हिफाजत में!"

अलाउद्दीन के चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगीं. सामने वाली दीवार पर लगी हुई मुल्क की तानाशाह फौजी सदर की तस्वीर को देखते हुए वह ठंडी सांस छोड़ते हुए बोला, "या खुदा! मेरे मौला! क्या हश्र होगा हमारे प्यारे वतन का.....?" □

मारूगां.' सुजान बड़बड़ा रहा था, मुझे उसकी एक बात भी समझ में नहीं आ रही थी. सुजान, कौन-सा फौजी? कौन-सी माँ? कौन सी बहन ? तुम क्या कह रहे हो, मुझे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा. सुजान कहीं खो गया था... 'तुम सुनना चाहते हो उस फौजी की कहानी... लो सुनो...

'बात उन दिनों की है, जब अपने देश पर पड़ोसी देश ने आक्रमण किया था. हम उन दिनों 'पीस एरिया' में थे. हुक्म आए सीमा पर पहुंचने के. क्या दृश्य थे. तैयारियाँ होने लगीं थीं. जवान अपने-अपने घर पत्र लिखने लगे. चहल-पहल और उत्साह सबके मन में था. सारी तैयारियाँ झटपट हो गयीं. एक स्पेशल ट्रेन में हम लोग बैठे. गाड़ी चली. सब लोग आपाधापी में थे दुश्मनों से दो-दो हाथ करने के अरमान दिल में उलझ रहे थे. पूरे देश में खासा जीवन छा गया था. हमरी ट्रेन जिस स्टेशन पर भी रुकती, हजारों महिलाएं हमारे तिलक करतीं. सैकड़ों आशीर्वाद हमें मिल रहे थे. हजारों लड़कियाँ राखी बांध रही थीं, तिलक कर रही थीं. हम अपनी-अपनी चौकियों पर पहुँचे. देश की हजारों माँओं एवं बहनों के स्नेह से हमारे दिल लबालब थे.

'...हमारी टुकड़ी लड़ते-लड़ते दुश्मन के एक गाँव में पहुँच गयी. हम निरंतर जीत रहे थे, गाँव एकदम खाली था. कहीं कोई नजर नहीं आ रहा था, हम पांच साथी एक घर में घुसे कि एक कमरे से कुछ आवाजें आयीं. हमने किवाड़ तोड़ डाले. कमरे में एक बुढ़िया–एक जवान लड़की सिकुड़ी-सी कोने में बैठी थीं. उनके चेहरे भय से जर्द पड़े थे. हमें देखकर उनकी घिग्घी बंध गयी. एक क्षण में जाने क्या हुआ हमारे साथी उस लड़की की ओर बढ़े, बुढ़िया गिड़गिड़ाई, 'खुदा के वास्ते हमें छोड़ दो, बेटा हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, बेटा तुम भी माँ-बहन वाले हो.' पर उस समय हम बहरे हो गये थे. हमारे साथी लड़की पर टूट पड़े. लड़की चीखी, 'भाई जान हमने क्या बिगाड़ा है हमारी किस्मत से मत खेलो, भाई जान हम बेसहारा हैं हमारे भाई बाप भी फौज़ ने मार डाले. हमें अपनी बहन समझिए भाई जान...' 'खुदा के लिए रुक जाओ– दरिंदों...' बुढ़िया ने चीखकर बेटी की ओर बढ़ना चाहा कि मेरी बंदूक गरज उठी, बुढ़िया फटी-फटी आँखों सहित ढेर हो गयी. बस-फिर जो हुआ. उफ...

'भगवान भी कांप गया होगा उस क्षण, हम बारी-बारी से उस पर टूट पड़े. वो भाई जान... भाई जान कहती रही. चार साथी कमरे बाहर आ गये. अंत में उसकी जिंदा लाश पर भी हमारी गन गरजी. कमरे में मैं अकेला रह गया था, उसकी फटी आँखें मुझे घूरती रहीं, मैं कमरे से निकलने ही वाला था कि... 'भा... ई... जा... न...' एक अंतिम आवाज आयी. मैं थक गया. माँ-बेटी की मुर्दा आखें मेरी ओर गड़ी थीं. क्षण भर में ही न जाने क्या हुआ. मैं पगला उठा. तमाम प्रश्नों ने मुझे घेर लिया. क्या हो गया था हमें, हम तो ऐसे नहीं थे, किसने कराया यह सब? क्या चंद नोटों ने, जो हर माह हमें तनख्वाह के रूप में मिलते हैं. क्या हमारे देश की माँओं के वात्सल्य ने उस देश की माँ के गोली मरवायी? या हमारे देश की बहनों के स्नेह ने उस देश की बहन से बलात्कार करवाया? कैसे बन गये हम दरिंदे? किसने बनाया, क्या मात्र एक विभाजन रेखा स्नेह या ममता का विभाजन कर सकती है? क्यों नहीं पड़ी हमारे कानों में भाई... भाई जान की आवाज? हमारे देश की बहनों की राखियाँ क्यों नहीं कर पायी रक्षा उस देश की बहन की? क्या उन सखियों ने ही प्रेरित किया यह सब करने को? बोलो–बोलो तुम्हीं बताओ, चुप क्यों हो? मैं तुमसे पूछता हूं–प्यार कैसे नफरत पैदा कर सकता है? मुझसे पूछते हैं, नौकरी क्यों छोड़ी. मुझे आश्चर्य है इन प्रश्नों के रहते मैंने जीवन ही क्यों नहीं छोड़ दिया? क्यों जिंदा हूँ मैं? मेरा सुजान कहाँ गया? यह दरिंदा फौजी सुजान को निगल गया है, मैं इसे निगल जाऊंगा... मैं इसे निगल जाऊंगा.' वो झटके से उठा और मेरे रोकते-रोकते शराब की आधी बोतल पी गया. थोड़ी देर बाद वो चीखा, 'हट जाओ मेरी आँखों के सामने से, मैं किसी की सूरत नहीं देखना चाहता. मैं किसी से नहीं मिलना चाहता. मुझे केवल इन प्रश्नों का जवाब चाहिए–कैसे लूट सकता है, स्नेह से लबालब हृदय बहन की इज्जत? क्या सीमारेखा से दिल बदल जाता है? यह नफरत किसने पैदा की? इधर की लड़की बहन... उधर की बहन–" वो बड़बड़ाता रहा–मेरे मस्तिक में यह प्रश्न घुस गये हैं, पर मेरे पासी भी कोई जवाब नहीं है. मैं पूछना चाहता हूँ सबसे... आपके पास कोई जवाब है...? है तो बतायें?'

■ **कौड़ियागंज अलीगढ़ (उ० प्र०)**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मथुरादास की डायरी

टेढ़ा उल्लू

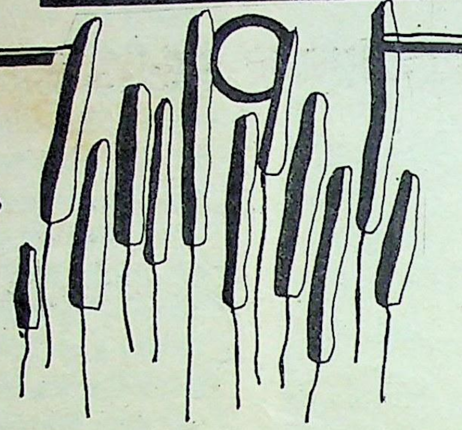

• मथुरादास

मथुरादास गायब रहे. गायब रहने की वजह थी. अपना उल्लू कुछ टेढ़ा हो गया था. उसे सीधा करना बहुत जरूरी था. उल्लू सीधा न कर पाने वाला आदमी भौंदू ही कहा जायेगा.

सच बात यह है कि हमें अपना टेढ़ा हो गया उल्लू सीधा करने में कठिनाई इसीलिए हो रही थी कि हमें मालूम हुए बिना ही पिछले दिनों न जाने कब उल्लू सीधा करना एक कला बन चुका था. बल्कि कला ही क्यों उसमें पर्याप्त तकनीकी विकास हो चुका था. जहां इस प्रक्रिया ने कला और तकनीकी रूप ले लिया था वहीं उसके कुछ उच्चस्तरीय प्रतिष्ठा-केंद्र भी विकसित हो चुके थे. कालीनों का केंद्र मुदरई है और ऊनी कपड़ों का लुधियाना. हथकरघे का केंद्र गोरखपुर है और चिकनसाजी का लखनऊ. वैसे लखनऊ वाली बात का पता हमें सिर्फ पर्यटन विभाग की पुस्तिका से चलता है.

अच्छा, यहां यह पहचान भी जरूरी है कि अपने उल्लू को सीधा करवाने का सही केंद्र कौन-सा है. कुछ लोगों ने अब अपना लुधियाना भोपाल में समझना शुरू कर दिया है. यह बहुत सही बात नहीं है. भोपाल में कुछ बहुत खास किस्म के उल्लू तो सीधे किए जा सकते हैं बाकी लेकर आप पहुंच तो जायेंगे पर वापस होते हुए उल्लू ही नहीं आप खुद ही टेढ़े हो चुके हो सकते हैं.

यहां मैं उन लोगों की बात नहीं कर रहा जिन्हें आप कितना भी टेढ़ा उल्लू थमा दें और कहीं भी बैठा दें, वे उसे सीधा करके टिका देंगे. टेढ़े-सीधेपन का सवाल ही अप्रासंगिक लगता है. मैं तो केवल ऐसे आदमी की स्थिति की चर्चा करना चाहता हूं जिसके पास उल्लू है पर टेढ़ा है और वह किसी कीमत पर सीधा नहीं हो रहा है.

मथुरादास इधर बलपूर्वक अपने उल्लू के साथ व्यस्त थे कि उधर 'सारिका' ने विशेषांक निकालने शुरू कर दिए.

वैसे यहां यह बता दूं अगर लेखक थोड़ा-सा चतुर हो तो विशेषांक कम से कम उसका उल्लू तो सीधा कर ही देते हैं. बंगाल में तो दुर्गा पूजा पर इतने भारी विशेषांक निकलते हैं कि उल्लू काफी दिन सीधा ही बना रह सके. उधर अपराध कथा विशेषांक निकले फिर महिलाओं के साथ दुराचार करने वाले विशेषांक निकले (देखिए भाषा कमजोर हो तो क्या अनर्थ होता है). मथुरादास का उल्लू इतना टेढ़ा तो नहीं ही हुआ था कि इनसे भी न सीधा होता. और नहीं तो मथुरादास यह लिख सकते थे कि उनका कोई दोस्त एक बार उन्हें बदनाम गली ले गया था पर वहां का परिवेश देखकर वे नाराज होकर वापस आ गए. इसमें हलफनामा तो मांगा नहीं जाता. मथुरादास जैनेंद्र से भी कुछ नहीं सीखे. क्योंकि स्त्रीयातना विशेषांक के चक्कर में जैनेंद्र अपना अच्छा खासा सीधा उल्लू टेढ़ा करके फिर सीधा करने लगे हैं.

इतना हुआ ही था कि जासूसी कथा विशेषांक निकलने शुरू हो गए. मुझे यकीन है कि सारिका डकैती विशेषांक भी निकालेगी. यह विशेषांक बहुत महत्त्वपूर्ण होगा. डकैती राष्ट्रीय महत्त्व की घटना है. इससे बहुतों का उल्लू सीधा होता है. बल्कि कभी-कभी तो एक-एक आदमी कई-कई उल्लू सीधे कर लेता है. जहां उसे सीधा करने लायक उल्लू उपलब्ध न हो वहां वह उल्लू के बजाय कुछ भी सीधा कर लेता है और चलता बनता है.

हमारे पड़ोस के एक घर में डकैती पड़ी. इस डकैती से बहुतों के उल्लू एक साथ सीधे होकर बैठ गए. जिसके यहां डकैती पड़ी थी उसने हमें फोन पर बताया, 'भाई साहब आपको एक खुश खबरी देनी थी.'

मैं समझा उनकी तरक्की हो गयी है पर वे बोले, 'नहीं भाई साहब हुआ यह कि कल मेरे यहां डकैती पड़ गयी.'

'तो इसमें खुश खबरी क्या है भाई?'

इससे आगे फिर मित्र ने कुछ नहीं कहा क्योंकि उन्हें मालूम हो गया कि मैं उन चंद अभागों में से हूं जिनका किसी भी प्रकार के उल्लू से पाला नहीं पड़ा.

मेरे मित्र के यहां डाकुओं ने लूटा तो थाने से पहले वे बीमा कंपनी गये. अपने लुटनीय माल का खासा बीमा उन्होंने कराया हुआ था. बीमा कंपनी वाला भी आनंदित हुआ क्योंकि मुआविजे के मोटे चेक से उसे भी थोड़ा लाभ हुआ. अब थाने की बारी आयी. थानेदार ने पहले उससे लुटे हुए माल की सूची प्राप्त की. उसका गंभीरतापूर्वक अध्ययन करता हुआ वह बोला, 'घड़ी तुम्हारी ही थी ?'

पड़ोसी ने कहा, 'जी हां. बैंगलौर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया था तब खरीदी थी.'

'हूं, बैंगलौर से खरीदी थी' दरोगा गंभीर होकर बोला, 'बैंगलौर तक तुमने जो यात्रा की उसका टिकट और घड़ी की रसीद हाजिर करो.'

मेरा उल्लू तो बंधु, टेढ़ा ही नहीं शायद विकलांग भी है. पर मेरे-पड़ोसी का ठीक-ठाक था. मैं रसीद के इस सवाल पर बौखला जाता पर मेरा पड़ोसी उतना ही प्रसन्न बना रहा. उसने तत्काल जेब में हाथ डाला और एक लिफाफा निकालकर दारोगा के हाथ में पकड़ा दिया. उसमें सौ रुपए के पांच नोट थे. दारोगा ने उसे समुचित रसीद और बैंगलौर यात्रा टिकट मान लिया और तुरंत डकैती की रपट दर्ज करवा ली. फिर सीना फुलाकर बोला, 'आप इत्मीनान रखिए जनाब हम डकैतों को छोड़ेंगे नहीं. आपका एक-एक सामान बरामद कराएंगे.'

पड़ोसी का उल्लू सीधा ही नहीं चतुर भी था. इसीलिए पड़ोसी ने दूसरी जेब से उतनी ही फुर्ती से एक लिफाफा और निकालकर दारोगा को थमा दिया और बोला, 'आप कष्ट न करें श्री मान, रपट तो जरूरी थी इसलिए लिखायी. हम लोग शरीफ आदमी हैं. पुलिस के चक्कर में नहीं पड़ना चाहते.'

अब तक की कार्यवाही से डकैत, बीमावाले, पड़ोसी और दारोगा, इन चारों का उल्लू सीधा होने लग गया था लेकिन अभी और लोग भी अपने टेढ़े उल्लू लिए हुए इसी पांत में खड़े हो चुके थे. अपराध संवाददाता के लिए इसमें गंभीर समाचार था. वह सीधे शहर कोतवाल के पास पहुंचा और बोला, 'श्रीमान मथुरादास के पड़ोस में डकैती पड़ गयी. अपराध के आंकड़े बहुत ऊपर जा रहे हैं.'

शहर कोतवाल ने कहा, 'हम अपराधों पर जल्दी ही पूरा नियंत्रण कर लेंगे.'

इतना कहकर उसने तत्काल दराज से निकालकर एक लिफाफा पत्रकार को थमा दिया. उस लिफाफे में पत्रकार के सेवानिवृत्त बाप के लिए एक कार्बाइन नामक मारक अस्त्र का लाइसेंस था.

इस लाइसेंस से कई मोटे उल्लू सीधे होने वाले थे. मकान किराए पर उठाने में बड़ी झिकझिक होती है. मोटर टैंपो या रिक्शा भी किराये पर उठाने वाला हमेशा झंझटों में पड़ा रहता है. कार्बाइन किराये पर उठाना बहुत सरल होता है. डकैत दो-तीन हजार रुपया प्रति रात पर उसे किराए पर ले जाते हैं. इस तरह पत्रकार के बाप का ही नहीं डकैतों का भी उल्लू सीधा होकर जाता है.

लेकिन टेढ़े उल्लुओं को सीधा करवाने के इच्छुक लोगों का सिलसिला यहीं समाप्त नहीं होता. डकैती का समाचार मथुरादास की बस्ती की पड़ोसी बस्ती के थाने तक भी पहुंचा. वहां का थानेदार अपना तबादला उसी इलाके में कराना चाहता था जहां मथुरादास रहते थे. वह डकैती की खबर पाकर अपने विधायक के यहां पहुंचा और बोला, 'श्रीमान, दूसरे थाने में बड़ी अंधेर हो रही है. डकैतियां पड़ रही हैं और थाना सो रहा है.

विधायक सुनते ही सबकुछ समझ गया. बोला, 'तुम तो उसे अच्छी तरह संभाल सकते हो. इसके लिए अर्जी दो.'

थानेदार ने जेब से लिफाफा निकालकर सामने रख दिया. उसमें अर्जी नहीं, नोट थे.

लिफाफा उठाते हुए विधायक बोला, 'अब तुम जाओ. तुम्हारा काम हुआ समझो. मैं गृहमंत्री से कह दूंगा.'

इसके बाद विधायक गृहमंत्री के पास गया और बोला, 'आप तो जानते हैं मथुरादास पत्रकार आदमी हैं. उनके पड़ोस में डकैती पड़ गयी. अब यह मामला समाचार पत्रों में गंभीर रूप ले सकता है.'

गृह मंत्री ने कहा, 'माननीय विधायक, आपने कभी मुझसे कहा था कि मुझे कुछ सेवा का मौका देंगे.'

विधायक ने अपने प्रिय दारोगा के तबादले का मामला उन्हें सौंपा और बोले, 'मान्यवर, आपकी मुझ पर हमेशा कृपा रही है.'

तब गृहमंत्री ने कहा, 'मान्यवर, देखिए आप तो केंद्रीय नेताओं से अक्सर मिलते रहते हैं. आप उनको बताइए कि मुख्यमंत्री भ्रष्ट हो चुके हैं और प्रशासन ठप्प पड़ा है. मुख्यमंत्री बनने लायक मैं ही सही व्यक्ति हूं. केंद्रीय नेताओं के कान में यह सब डालें.'

'मैं बलपूर्वक आपका समर्थन करूंगा,' विधायक ने कहा.

इस प्रकार आप देखिए कि छोटी-सी घटना से चतुर व्यक्तियों ने अपने न जाने कितने उल्लू तुरंत सीधे कर लिए और एक मैं हूं मथुरादास कि उधर 'सारिका' विशेषांक निकाले जा रही है और मैं अपना टेढ़ा उल्लू लिये अलग बैठा खींचतान किये जा रहा हूं. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेकीराम की चारपाइयां

• जगदीश चंद्र पांडेय

संयोग कि वह आज खाली था. उनको अपनी ओर आते देख स्वयं बोला था—'साहब चारपाइयां बनानी हैं?' यही कारण था कि उसकी यह बात सुन नेकी राम अपलक उसे देखते रह गये. उन्हें तो तब ऐसा लगा जैसे उन्हें धरती की वह दौलत मिल आई है जिसकी कल्पना भी उनके लिए असंभव थी. क्योंकि वे तो अब तक इस बात से परेशान थे यदि इस बार वे चारपाइयां नहीं बना पाये तो फिर वे शायद ही बना पायें. खतरा था उनकी योजना का पत्नी को पता चलते ही उनकी योजना पर मुसीबत का पहाड़ टूट पडेगा. इसी लिए महमूद के खाली पने का पता लगते ही उनके झुर्रियों भरे चेहरे पर पहली बार चमक झांक आई थी.. तब उन्होंने महमूद के पीछे दीवार के सहारे सटी बनी-बनाई चारपाइयों को ईर्ष्या भरी नजरों से देखा था. सोचा था—इनसे सौ गुना अच्छी चारपाइयां बनवाऊंगा. इसी कारण मारे खुशी के वे महमूद को अपना सारा काम समझाने लगे. पर हुआ यह कि उनकी बात पूरी होते ही महमूद ने जैसे ही पांच चारपाइयों का हिसाब फैलाया तो उनकी तो अलग, उनकी खुशी तक की जमीन हिल गई. क्योंकि चारपाइयों के लिए उन्होंने सौ तय करे थे. महमूदी हिसाब अट्ठारह किलो बान, बुनाई तथा टूट- फूट के कारण एक सौ तीस तक जा खिंचा था,

वैसे यह बात नहीं कि वे आज इतने पैसे खर्च नहीं कर सकते थे. आज तो उनके पास इमरजेंसी लोन के तीन सौ रुपये थे. वे तो इन पैसों से चारपाइयों के अलावा रजाईयां,गद्दे आदि ठीक कराकर एक बच्चे का एक स्वेटर खरीदते हुए भी बचे पैसों से तनखा तक के चार पांच दिन खींचने की सोचे थे. पर महमूद ने उनके इसी हिसाब के लिए प्रश्न खड़ा कर दिया था. मगर हद यह कि इतनी बातें कर चुकने पर वे महमूद को मना भी नहीं कर सकते थे. एक तो सफेदपोशी जिंदगी की प्रतिष्ठा की बात, दूसरा महमूद और उनकी बातों के दौरान तीन-चार और बाबू महमूद से खालीपने की बातें पूछकर निराश से लौट चुके थे. कौन जाने वे लोग भी नेकी राम की तरह महमूद की फिराक में थे. यही कारण था कि नेकी राम को महमूदी हिसाब स्वीकारना ही पड़ा. यह अलग बात थी कि पान खरीदने के बाद जैसे ही वे महमूद के साथ घर को लौटने लगे तब पत्नी की याद आते ही वे घबरा उठे.

मगर इस बार उनकी पत्नी महमूद और बान लिए आते पति को देख कर भी खीझी नहीं. उल्टा लंबे अर्से बाद मुस्कराई थी. यह अलग बात थी कि नेकी राम ने पत्नी की इस मुस्कराहट का भी अर्थ दूसरा ही लगा लिया. महमूद के बदले वे स्वयं जो बान ला रहे थे. जबकि आज की हकीकत यह थी कि उनकी पत्नी ऐसा कुछ सोच सकने या करने की स्थिति में नहीं थी. पिछली रात की एक बात का उस पर इतना असर था कि वह अंदर ही अंदर आज रो रही थी. फिर बैशाखियों वाले महमूद ने उनके मन मस्तिष्क को झकझोर डाला था. उसे तो महमूद को देख यहां तक लगा था जैसे सामने चारपाई बनाने वाला महमूद नहीं, बल्कि उनकी गृहस्थी उसके रूप में खड़ी है. एक तो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाये गये विकलांग वर्ष का उस पर असर था. दूसरे उन्होंने रात सपने में पति को बड़बड़ाते सुना था—चिंता मत करो. अब कल से कोई फर्श पर नहीं सोओगे. उन्होंने सारा इंतजाम कर रखा है. अब एक तुम तो क्या, धरती का कोई भी नहीं. तब वह अवाक-सी अगल-बगल सोये पति व बच्चों को देखती रह गई थी. पहली बार उन्हें भी अपना परिवार चूहे के परिवार-सा लगा था. संयोग कि उनका नाम दमयंती. हालांकि इससे पहले पति के गुस्से और बातों को सुन वह अक्सर सोचा करती थी—उसके पति का दिमाग सठिया आया है. जबकि अब पति की बात सुन अपने को कोसने लगी थी—पति की इस मानसिकता के पीछे सिर्फ वे हैं. तब उनको अपना वह सारा व्यवहार याद हो आया था जब उसके पति अक्सर चारपाइयों की बातें छेड़ते थे. और वे थी कि किसी न किसी बहाने चारपाइयों की बात टाल देती थी. यही कारण था कि रात उनकी आंखों के सामने बार-बार वह दिन खिंच आया था जब उनकी जिद के कारण नेकी राम की चारपाई योजना चादर और दरी योजना में तबदील हुई थी. उनकी नजरों में ऊपर का क्वाटर होने के कारण फर्श पर सोया जा सकता था. तब दरी व चादर खरीदने पर वे काफी खुश हुई थी. जबकि अब उन्हें बार-बार याद आ रहा था उसके पति उस रात तो अलग कई-कई रातें सिर्फ करवटें बदलते रहे थे. तब उन्हें पति की करवटों से जरा भी हमदर्दी नहीं थी. बल्कि अब उन्हें यहां तक खतरा हो आया था कहीं उसके नल उसे सोते न छोड़ जायें. अलबत्ता पौ फटते समय तक उन्हें यह संदेह अवश्य हो आया था—आज जरूर दाल में काला है. इसीलिए उन्होंने पति के नहाते समय पति की जेबें टटोली थीं. पर बावजूद तीन सौ रुपये देख लेने के वे चुप रही थीं. क्योंकि अब वे इस सीमा तक आ पहुंची थी—इस बार यदि पति ने कोई और बात भी की तो वे स्वयं चारपाइयों की जिद करेगी.

भला ऐसी मानसिकता में वह आज विरोध कैसे करती! आज तो उनका ऐसा तक व्यवहार था कि महमूद ने छत में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

dation Chennai and eGangotri

पहुंचकर बान बाद में फर्श पर रखा, वे चारपाइयों के पायों और डंडों को पहले लाकर महमूद के सामने रखने लगी. हां उन्हें लाते उनके चेहरे पर यह घबराहट अवश्य झलकी थी कि उनको देख महमूद क्या सोचेगा. क्योंकि चारपाइयों के पायों व डंडों का एक ओर लकड़ी का ढेर-सा लगा था. उन्हें इस तरह लाते देख महमूद ने भी सोचा था—बाबू जी अभी-अभी बदली होकर आये हैं. ऐसा वह कई घरों में देख भी चुका था. उसे क्या पता था नेकी राम की चारपाइयों की यह दशा बदली के सफर से नहीं, जिंदगी के सफर के कारण है. ऊपर से रही-सही स्थिति नेकी राम की उस चारपाई ने स्पष्ट कर दी, जो कमरे में बिछी होने की स्थिति में तो चारपाई की शक्ल में थी, मगर नेकी राम तथा उनकी पत्नी द्वारा छत पर लाते ही ऐसे दिखने लगी जैसे कि उसके बानों में आपसी होड़ हो कि छत की फर्श को छूने का उनमें गोल्ड मैडल कौन पायेगा. ऐसा इसलिए कि नेकी राम के ट्रंकों के ऊपर रखे बिस्तर का सहारा पाकर बान जहां उठे थे वहीं चारपाई पर बिछे बिस्तर ने नेकी राम की उस असलियत को छिपा रखा था जिसमें रात उस पर से बिस्तर उठा कर फर्श पर सोया जाता था. फिर उसकी बची—खुची शक्ल ऐसी कि वर्गाकार न होकर लगभग समानांतर चतुर्भुज की शक्ल में थी. यही कारण था कि अब महमूद तक पहले कभी नेकी राम व उनकी पत्नी को देखता रह गया था. फिर मजदूरपने की अपनी मजबूरी में वह यह परखने लगा—कौन-कौन साथी पाये और डंडे हैं...

सचमुच नेकीराम की इन चारपाइयों की दास्तान ही अजीब थी. कमरे में बिछी चारपाई को छोड़ बाकी चारपाइयां तब खरीदी गई थीं जब आठ साल पहले उसके दो भाई बी. ए. पास कर नौकरी की खोज में एक साथ आये थे. हालांकि नेकी राम तब भी चारपाइयां खरीदने की स्थिति में नहीं थे. क्योंकि भाइयों की फीस आदि के लिए उन्हें इतना भेजना पड़ता था कि बची तनखा से मुश्किल से रोटियां चल पाती थीं. वह भी इसलिए नहीं कि बची तनखा रोटियों के लिए काफी थी, बल्कि इसलिए कि बच्चों का दूध तथा सब्जी जैसे दसों खर्चों को काटकर. फिर उनका सोच था—कष्ट के दिन तभी तक हैं जब तक भाइयों की नौकरी नहीं लगती. इससे भी बड़ी बात यह थी कि उनकी पत्नी भाइयों की मदद के मामले में उदार थी. उसका तो उनसे कहना था—यह ठीक है वे आपके सौतेले भाई हैं. पर क्या पिता को मदद करना आपका फर्ज नहीं.

फिर भाइयों के आते ही चारपाइयां खरीदने के पीछे कारण यह था कि जब वे दिल्ली आये थे तब उन्हें भी लगभग आठ साल नीचे फर्श पर सोना पड़ा था. हालांकि गांव में भी वे हमेशा फर्श पर सोये थे. पर जाने क्या बात थी कि दिल्ली में फर्श पर सोना उन्हें बेहद अखतरता था. तब वे अक्सर सोचा करते थे—कैसी अजीब है आदमी की यह जिंदगी. जिसमें आदमी नये भोर की आपाधापी से जूझते बीते दिन की थकान भी न मिटा सके. आदमी के पास भरपेट खाने के बाद आराम से सोने लायक चारपाई तो होनी ही चाहिए. कई बार उनके मन में ख्याल आता—दुनिया की कैसी अजीब है यह दास्तान, मरने पर तो आदमी को चारपाई में ले जाया जाता है, जीते जी चारपाई उसके लिए सपना बनी रहती है. इसलिए उन्होंने एक बार नहीं, कई बार अपना फैसला दुहराया था—नौकरी की पहली तनखा पर सबसे पहले वे चारपाई खरीदेंगे. मगर इसमें भी दिक्कत यह हो आई कि पहले तो चार साल तक नौकरी नहीं लगी. फिर नौकरी लगने पर समस्या यह हो आई, यदि वे चारपाई खरीद लें तो गांव के वे बाकी चार बेकार कहां सोयेंगे जो दिलावर चाचा की सराय में रात एक दूसरे का मुंह देख अपना दुःख भूला करते थे. ऊपर से चाचा की बातें ऐसी कि जिनके कारण दूसरी जगह कमरा लेने के बदले उन्होंने चाचा के ही साथ रहना उचित समझा. क्योंकि चाचा अक्सर कहा करते थे—भाई यह तो वह सराय है जिसके दरवाजे गांव व इलाके के लोगों के लिए हमेशा खुले हैं. यह अलग बात है काम निकल आने पर लोग दिलावर चाचा को न सिर्फ भूल जाते हैं वरन जब कभी सब्जी में ज्यादे पानी पड़ जाये तो कहा करते हैं कि आज दिलावरी मार्का सब्जी बन आयी है. लोग भूल जाते हैं सराय सिर्फ रैनबसेरा हुआ करती है. जबकि मेरी सराय ऐसी है जिसमें जब कभी कोई आया, कोई भूखा नहीं रहा. कोई सोचे तो जरा, खाने वाले आठ दस जने हो तो मैं पाव जिंद लाकर उनको रींग रींग सब्जी नहीं खिलाऊं तो और क्या करूं! दुनिया समझती है बीवी बच्चों की भी परवाह न करने वाला मैं बेवकूफ हूं. पर मैं सोचता हूं—मेरी धरती इतनी तो बांझ नहीं जो ऐसा आदमी पैदा ही न करे जो अपने दुःख से दूसरों का दुःख बड़ा समझकर मेरे इलाके व मेरे देश के लोगों का दुःख दूर न करे. मुझे तो हर बेकार के चेहरे पर ऐसे ही...

भाल ऐसी बातें सुनकर नेकी राम नौकरी लगने पर भी दिलावर की सराय से अलग कैसे जाते. इसी कारण वे पहली तनखा पाकर भी चारपाई नहीं खरीद सके थे. हां, उन्होंने चारपाई तब खरीदी थी जब शादी हो आने के कारण चाचा की सराय में रहना अव्यावहारिक था. पर फिर भी वे चाचा की सराय को भूले नहीं थे. जरा भी गुंजाइश होने पर वे न सिर्फ चाचा की सराय में दस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंद्रह किलो आटा पहुंचा आते थे वरन् जब भी ठंड में ठिठुरते बच्चों को देखते थे तो उनका मन पसीज आता था.

यही तो कारण था कि भाइयों को फर्श पर सोते वे देख नहीं पाये थे. उनके आते ही उन्होंने उन सबके लिए चारपाइयां खरीदी थीं. शायद यह भी एक संयोग था. एक तो भाइयों के आते ही कमरे की दिक्कत. दूसरा एक गरीब मकान मालिक को लड़की की शादी के लिए एक हजार रुपयों की जरूरत. तीसरा एक हजार एडवांस देने पर चपरासी क्वार्टर की खुली जगह का लालच. ऊपर से आश्चर्य कि नेकी राम ने एक मित्र से इस बात का जिकर क्या किया कि दो ही घंटे में हजार की जगह पंद्रह सौ हाजिर. नतीजा यह कि समाज की सोसायटी के सहारे छत्तीस ही घंटे के अंदर न सिर्फ नया मकान वरन् वे पांच चारपाइयों में पहली बार अपने पूरे परिवार के साथ. अलबत्ता वे ऐसा देखते हुए भी यह भूल नहीं पाये थे कि उनकी मां सौतेली मां के व्यवहार के कारण इस समय भी गांव मकान के चाख में फर्श पर सोयी होगी. पर तभी उन्होंने सोचा था—भलाई का फल हमेशा भला मिलता है. उसके भाई जरूर उसकी मां को चारपाई पर सुलायेंगे. उन्हें क्या पता था जिनकों वे भाई समझे हैं, वे भाई नहीं हैं. सौतेले हैं. वे तब भूल गये थे आने वाले कल में अब उन्हें पचास की जगह न सिर्फ पछत्तर किराया देना पड़ेगा, वरन् छः जनों के बदले आठों के लिए राशन जुटाते-जुटाते वे इस स्थिति तक पहुंच जायेंगे कि जिस सोसायटी से उन्हें दो घंटे में हजार की जगह पंद्रह सौ मिले थे, उसी सोसायटी से मासिक किश्त अदा न कर पाने के कारण उन्हें अपमानित होकर इस्तीफा इसलिए देना पड़ेगा कि भाइयों के पास से आने वाले मनिआर्डरों के लिए फार्म ही पोस्ट आफिस में खतम हो गये हैं. .

इस पर भी इतना ही हुआ होता तो बात और थी. हद तो यह हो आई कि एक भाई की शादी के मौके पर उन्हें अपनी सौतेली मां से एक ऐसा वाक्य सुनना पड़ा जिसे सुन वे हक्के-बक्के रह गये. तभी तो वे तब चक्कर-सा खा छज्जे पर बैठ गये थे. पर आश्चर्य कि पूरी रिश्तेदारी में से न तो किसी ने सौतेली मां को फटकारा था और न नेकी को दिलासा दी थी. वैसे भी नेकी के पास अब बचा क्या था. अब तो उनके पास सिर्फ वे आंसू बचे थे जिन्हें बहाने की कोई कीमत नहीं चुकानी पड़ती थी. अगर ऐसी बात नहीं होती तो सौतेली यह थोड़े ही कहती—वह तो जनम भर का नंगा हुआ. जरा उससे पूछो तो उसके पास लौटने को पैसे हैं या नहीं.... हां इसके जवाब में अब तक खामोश रहीं उनकी मां अवश्य बोली, थी—दुनिया में सभी नंगे पैदा होते हैं. सभी दुनिया से नंगे ही जाते हैं. फिर जिसके पास यदि होता भी है तो दूसरों को कौन देता है. जो दूसरों को देता है वही आज के जमाने का नंगा है. कोई बात नहीं मेरा बेटा नंगा ही सही, अब मैं अपने बेटे के साथ जाती हूं. दो रोटी मुझे दे ही देगा. वैसे भी अपना पेट तो कुत्ता भी पाल लेता है: खबरदार जो इससे आगे किसी ने कुछ कहा.... तब इसके बाद नेकीराम अपनी मां को क्या समझाते. अगले ही सुबह अपनी मां को अपने साथ दिल्ली ले आये थे. अलबत्ता मां को लाते समय उन्हें यह एहसास हो आया था कि वे न सिर्फ मां को ला रहे हैं, वरन् हमेशा-हमेशा के लिए भाइयों से अलग हो रहे हैं... तथा अब आगे का समय उनका ऐसा आने वाला है जिसमें उनकी दमयंती उनसे कहा करेगी—तुम निकम्मे नहीं तो और क्या हो जो यह तक नहीं समझ सके जब आज के जमाने में एक कोख से पैदा हुए भाई-भाई नहीं होते तो दो कोखों से पैदा हुए भाई-भाई कैसे हो सकते हैं. हां उनके लिए थोड़े संतोष की बात यह थी कि नियोजित परिवार के जमाने में उनका परिवार इतना अनियोजित नहीं था जिसे सम्हाला ही नहीं जा सके. इस मामले में उन्होंने काफी सफलता भी पा ली थी. क्योंकि भाइयों के जमाने में पहली को खतम हो आती उनकी तनखा धीरे-धीरे बीस तक खिचने ही लगी थी. इससे अधिक उसमें बरकत इसलिए नहीं थी कि वे ऐसे कर्मचारी नहीं थे जिनको बिना मांगे ही सरकार पांच-पांच छः-छः सौ का महंगाई भत्ते का तोहफा बैंक या फंड में जमा करने दिया करती थी. वे तो ऐसे कर्मचारी थे जिनका महंगाई भत्ता महीनों पहले ड्यू हो आने पर भी वर्षों तक कुंभकर्णी फैसले के अधीन लटका ही रहता था. क्योंकि नीति-निर्देशक अच्छी तरह जानते थे उनकी सुविधायें सिर्फ तब तक हैं जब तक लोग रोटी और कपड़ों में ही उलझे रहें. चारपाइयां तो बहुत दूर की बात थी.ऐसे में उनके पास पांच चारपाइयों को बनाने लायक एक साथ पैसे कैसे होते. हां, वे एक-एक कर चारपाइयां बना सकते थे. पर उसमें दिक्कत यह थी कि बच्चों को जैसे ही एक के बनने का पता चलता वे आपस में लड़ने लगते—नई में मैं सोऊंगा-मैं सोऊंगा. इसलिए नतीजा यह कि नेकीराम की चारपाइयां लगभग तीन साल से पड़ी थीं.

अब ऊपर महमूद चारपाइयां बुनने लगा था. आखिर वह इतना अनुभवहीन तो नहीं था जो मालिक के न बता सकने पर भी अलग-अलग चारपाइयों के डंडों और पायों को अलग अलग न कर सके. यह अलग बात थी कि इस छंटाई के दौरान पहले जहां वह खीझा था, वहीं बाद में उसका मन नेकीराम के प्रति इतना पसीजा था कि उसने अंदर ही अंदर फैसला किया था—भले ही पायों के छोटे बड़े हो आने के कारण उन्हें ठीक करने में उसे नये सिरे से मेहनत करनी पड़े. वह टूट-फूट को निभायेगा. संयोग कि सिर्फ एक पाया टूटा था. अलबत्ता दो चारपाइयों के डंडे तब तक नहीं बदलते जब तक फिर काटने पर चारपाई के घुटनों तक सिकुड़ने की मजबूरी ही न हो आये.

नीचे नेकीराम थे कि रजाइयों और गद्दों को एक जगह जमा करने के बाद इस कशमकश में आ पहुंचे थे... करें तो करें क्या ? क्योंकि बिटिया के सुबह ही फट आये सूट की पूर्ति उनकी जरूरतों में और जुड़ चुकी थी. इसलिए वे चाहते हुए भी रजाइयों में हाथ डालने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहे थे. ऊपर से रजाइयां व गद्दे ऐसे-जैसे कि वे सुदामा के तांदुलों की पोटलियां हों. क्योंकि उनकी रूई यदि कई जगह रूई के ढेर की शक्ल में थी तो कई जगह सिर्फ कपड़ा आमने-सामने.

—'पापा चलो न बाजार सबसे पहले मेरा स्वेटर.' नेकीराम का लड़का जिद पर उतर आया था.

—'हां बेटा जरूर खरीदेंगे.' दययन्ती बेटे को दिलासा दे रही थी. बिटिया को समझा रही थीं, 'बेटी पहले बड़ा काम कर लेने दे. तेरा सूट तो पहली को भी बन जायेगा. देख तो पहले इसका स्वेटर चाहिए. इसके निकम्मे साथियों ने स्वेटर के टूटे डोरों को खींच-खींचकर पहनने लायक भी नहीं छोड़ा है. गाठें लगाई

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी जायें तो कब तक?'

मगर नेकीराम खामोश थे. शायद वे पत्नी की तरह बच्चों को दिलासा तक देने की स्थिति में नहीं थे. क्योंकि सबकी निगाहें उनपर थीं. उनका दुख था—वे किसका मुंह देखें. इसलिए उनकी निगाहें सिर्फ रजाइयों पर थीं. जानते जो थे जिस तरह से उनकी ख्वाहिश चारपाइयां थीं उसी तरह उनकी पत्नी की ख्वाहिश कभी, अच्छा बिस्तर थी. यही कारण था कि इस याद ने उनको इतना बेचैन कर दिया कि उनकी आंखों के सामने उनका सारा अतीत खिंच आया. वैसे उन्हें भी लखपति बनने के मौके मिले थे. पर वे लखपति बनते कैसे? उनका तो आदर्श वह दिलावर था—जो बेकारों को रींग-रींग सब्जी खिलाया करता था. उसी का तो असर था कि वे आजके खुलेआम रिश्वती जमाने में भी एक कप चाय को तक रिश्वत मानते थे. तभी जाने क्या हुआ कि उन्होंने आवेश वश एक रजाई उठा ली. तागा तोड़ने लगे. उनको देख दमयंती ने भी दूसरी उठा ली. अब इधर रजाइयों के तागे टूट रहे थे, उधर वर्षों बाद दमयंती व उनके दिलों के टूटे तागे जुड़ने शुरू हो आये थे. गरीब दिलों के तागे ऐसे ही टूटते और जुड़ते जो हैं. नेकीराम को पत्नी का वह चेहरा याद आ रहा था जब बच्चों की मांग के बीच वह अक्सर कहा करती थी—मेरे सामने रोकर कुछ नहीं बनेगा. रोओ अपने उन चाचाओं के सामने जिनकी यादें ऊपर छत पर पड़ी हैं. कौन जाने चारपाइयां ही पिघल आयें.... दमयंती को अपने पति के उस सपने की याद आ रही थी जिसमें उन्होंने धरती भर के लोगों के लिए चारपाइयों की कल्पना की थी. सामने बरामदे में दमे की मरीज मां खांस रही थी—खों खों. शायद नीचे फर्श पर सोने के कारण मां को भी गांव याद आ गया था. क्योंकि गांव में ठीक उनके सोने की जगह के ऊपर लकड़ी की बनी पाटी में दर्जनों पाये व डंडे पड़े रहते थे. तब नेकीराम बचपन में कई बार रात ही रात में उन्हें जोड़ने की सोचते थे. बस इसी याद का आना था कि नेकीराम के लिए भी अपने को सम्हाल पाना कठिन हो आया. उन्होंने गुस्से में आकर तागा इतने जोर से तोड़ा कि वर्षों पुराना रजाई का छीजा कपड़ा बुरी तरह फट आया चर्र चर्र...

अब नेकीराम और भी कांप उठे. अब तो रजाई के कपड़े की जरूरत और उभर आयी थी. आखिर बंधी-बंधाई कैदी आमद की यह स्थिति न हो तो किसकी हो. इसीलिए उनकी आंखों के आगे पूरी तरह अंधेरा छा आया. घबराकर उन्होंने दमयंती को देखा. इससे अधिक वे कर भी क्या सकते थे. क्योंकि नेकी की नेकियां अब तक उसी के कंधों पर टिकी थीं. फिर उनके अपने अनुभव थे—इन्सान-इन्सान के आंसू देख पिघल सकता है पर पत्थर दिल ईश्वर नहीं. शुकर भी यह कि दमयंती इतने पर भी घबरायी नहीं. शायद जानती थी—भक्तों की परीक्षा वाली बातें भले ही द्वापर व त्रेता युग में रही हों. पर आजके जमाने में तो स्थिति यहां तक हो आयी है कि आदमी का अपना श्रम तक अपना नहीं रहा. मगर आज अब उसके लिए भी समस्या, करे तो करे क्या? आज तो उसके पास तक कुछ नहीं था. वक्त-बेवक्त के लिए छिपाये उसके पैसे तक अब गृहस्थी के चूल्हे में स्वाहा हो चुके थे. उसके पति के पानी भर आये फेफड़ों के पानी को सुखाने फलों की एकाएक जरूरत जो पड़ आई थी. क्योंकि वे पिछले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

लघुकथा

डर

■ श्याम सुंदर अग्रवाल

दस वर्ष की एक बच्ची डॉक्टर के कक्ष से रोती हुई बाहर निकली. उसकी मां उसे बेंच पर बिठाकर बाहर सड़क की ओर निकल गयी.

आसपास बैठे लोगों ने बड़े प्रयत्न से बच्ची को चुप करवाया. फिर वे उससे पूछने लगे, "क्या तुम्हारे बहुत दर्द हो रहा है?"

"क्या तुम्हारे टीका लगने वाला है?"

"क्या डॉक्टर साहब ने कुछ कहा है?"

लड़की हर सवाल का जवाब गर्दन हिला कर 'नहीं' में दे रही थी.

"तो तुम रो क्यों रही थीं?" मैंने उत्सुकता से पूछा.

"डॉक्टर ने कहा, मुझे अस्पताल में दाखिल होना पड़ेगा." लड़की ने सुबकते हुए कहा.

"यहां तुम्हें कोई तकलीफ नहीं होगी, डरो मत."

"तकलीफ का तो मुझे डर नहीं है."

"तो फिर तुम्हें डर कैसा?"

"मेरे पिता के पैसे खर्च होंगे!"

"तो क्या हुआ...तुम्हें उसकी क्या फिक्र?"

आसुंओं से भीगा चेहरा उठाकर वह बोली, "फिर मेरी बहन की शादी कैसे होगी?...पैसे तो पहले ही कम पड़ रहे हैं."

और वह फिर उसी तरह रोने लगी. □

जन्मों से ऐसे ही कर्मों के फलों की धरोहर लेकर पैदा हुए थे. भला जब एक गूंगी मां अपने बेटे के लिए नंगा शब्द नहीं सुन सकी तो एक नारी यह कैसे सहती—उसके पति की तो जीभ फलों के लिए सूखी और वह वक्त बे वक्त के लिए पति से पैसे छिपाये रहे. हां उनके लिए जब समस्या अवश्य खड़ी हो आती, थी जब पति जबरदस्ती फल बच्चों को पकड़ाते थे और बच्चे उन्हें पुनः पिता को पकड़ा देते थे. शायद वे भी जान चुके थे—वे धरती में धरती के फलों को खाने नहीं, धरती के पूर्वजन्मी कर्मों के फलों को खाने पैदा हुए हैं. आखिर अब वे इतने बच्चे तो रहे नहीं थे जो पिता की हकीकत की अनदेखी कर सकें. क्योंकि वे देख चुके थे उनके चाचा, एक दो बार आये अवश्य थे, पर उन्होंने पैसों की कमी के बारे में फर्जिया भर भी पूछा नहीं था. हां, जहां-तहां कहा अवश्य करते थे—भाइ साहब का परिवार तो ऐसा परिवार है जिसमें समुद्र की तरह सारी मदद स्वाहा हो जाये. ये ही बातें थीं जो नेकी के बच्चे तक एक तरह से तन से आये थे. और तो और कोई और उपाय न देखा तो उन्होंने इम्तेहान के दिनों तक रात-रात कड़ाई कर पिता के लिए फल जुटाये थे.

—'पापा स्वेटर पहली को ही खरीद लेना.' नेकी के बेटे ने इस बार भी उन्हें ढाढस बंधाया था. आखिर वह था तो उसी बाबू का बेटा जिसकी जरूरतें तो द्रौपदी की चीर हों और तनखा दो जून रोटी तक को न हो. भाई की बात सुन सूट की बात कहती बिटिया भी बाहर चली गयी थी. शायद उसके लिए भी अब अधिक देख पाना असह्य हो आया था. जबकि अब नेकीराम की निगाहें बाहर उधर टिकी थीं जिधर मां फर्श पर लेटी थी. और दमयंती थी कि उसे ऐसे लगा जैसे भगवान नेकी की नहीं, उसकी अपनी परीक्षा ले रहे हैं. उसका नाम राजा नल की उस दमयंती पर जो था. नल की दमयंती सामान कम होने पर भी छत्तीस पदार्थ तैयार कर सकती थी. इसलिए वह बाहर ऐसे गई जैसे अनजाने में वह पति को यह संकेत दे गई हो, जिस आदमी के पास पैसे नहीं होते उसके मां-बाप, भाई-बहिन, दोस्त-रिश्तेदार कोई भी अपने नहीं होते. यही वजह थी कि पत्नी के इस बार के बाहर जाने के कारण नेकी और भी घबरा आये. अब तो उन्हें ऐसा लगने लगा जैसे और तो और अब उनके अपने ही हाथ-पांव तक उनके अपने नहीं रहे....

हालांकि दमयंती ऐसा संकेत देने बाहर नहीं निकली थी. वह तो उस सूझ के कारण गयी थी जिसके बल पर उसने चारपाइयों से बचे पैसों से ही स्कूली स्वेटर, एक सूट-रजाइयों तथा गद्दों की ही मांग पूरी नहीं की. वरन् तीन किलो और रूई खरीदते हुए घुटनों से थोड़ी फटी अपनी धोती की तक ऐसे क्षति पूर्ति कर दी जैसे कि नेकीराम का इमरजेंसी लोन इमरजेंसी लोन न होकर धरती में आये दिन लगने वाली इमरजेंसियों से कम न हो, क्योंकि संयोगवश उसे सरकार द्वारा गरीबों के लिए मुहैया वह कंट्रोली कपड़ा मिल गया जो तनखा ज्यादे होने के कारण उसके पति को तो मिलता नहीं था. मिलता था उनको—जो बंधी आमद न होने के कारण दुकानदारी तक करते हुए गजेटैड अफसरों के सर्टिफिकेट के सहारे आज के गरीब थे. यह अलग बात थी कि इतना करने पर भी नेकी की एक और चूक के कारण दमयंती का इतना किया कराया भी उस समय धरा का धरा रह गया जब रजाइयां लेकर लौटते ही बच्चों से उन्हें पता चला—महमूद दूसरी चारपाई के बुनने के समय से लेकर अब तक कई बार चारपाइयों की अदवायनी उन छः रस्सियों की मांग कर चुका है जिन्हें खरीदने को अब पैसे बचे नहीं थे. हालांकि उन क्षणों की हकीकत यह थी कि पति-पत्नी दोनों लंबे अर्से बाद आंतरिक खुशी के बीच जहां घरेलू बातें कर रहे थे वहीं यह सोचे थे-अब घर पहुंचते ही बेटे को नया स्वेटर पहने देखेंगे... बिटिया सूट सिल रही होगी. यही कारण था कि बच्चों की बात सुन तो वे दोनों हक्के-बक्के से एक दूसरे का मुंह ताकते रह गये. फिर कोई और उपाय न सोच दमयंती कपड़े सुखाने की टंगी रस्सियां बरामदे से खोलने लगी. नेकी थे कि छत पर जा महमूद से बोले—'अरे-अरे इस आखिरी चारपाई के बुनने तक अभी रस्सियां खरीदकर लाता हूं.' मगर सामने पार्क में ऐसे बैठे कि कब ऊबकर महमूद बैसाखियों के सहारे दुकान को लौटे और कब वे घर लौटें. क्योंकि अंधेरा क्षण-क्षण गाढ़ा होता चला जा रहा था... □

■ डी—132 सरोजिनी नगर, नई दिल्ली—110023

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्वीर बोलती है

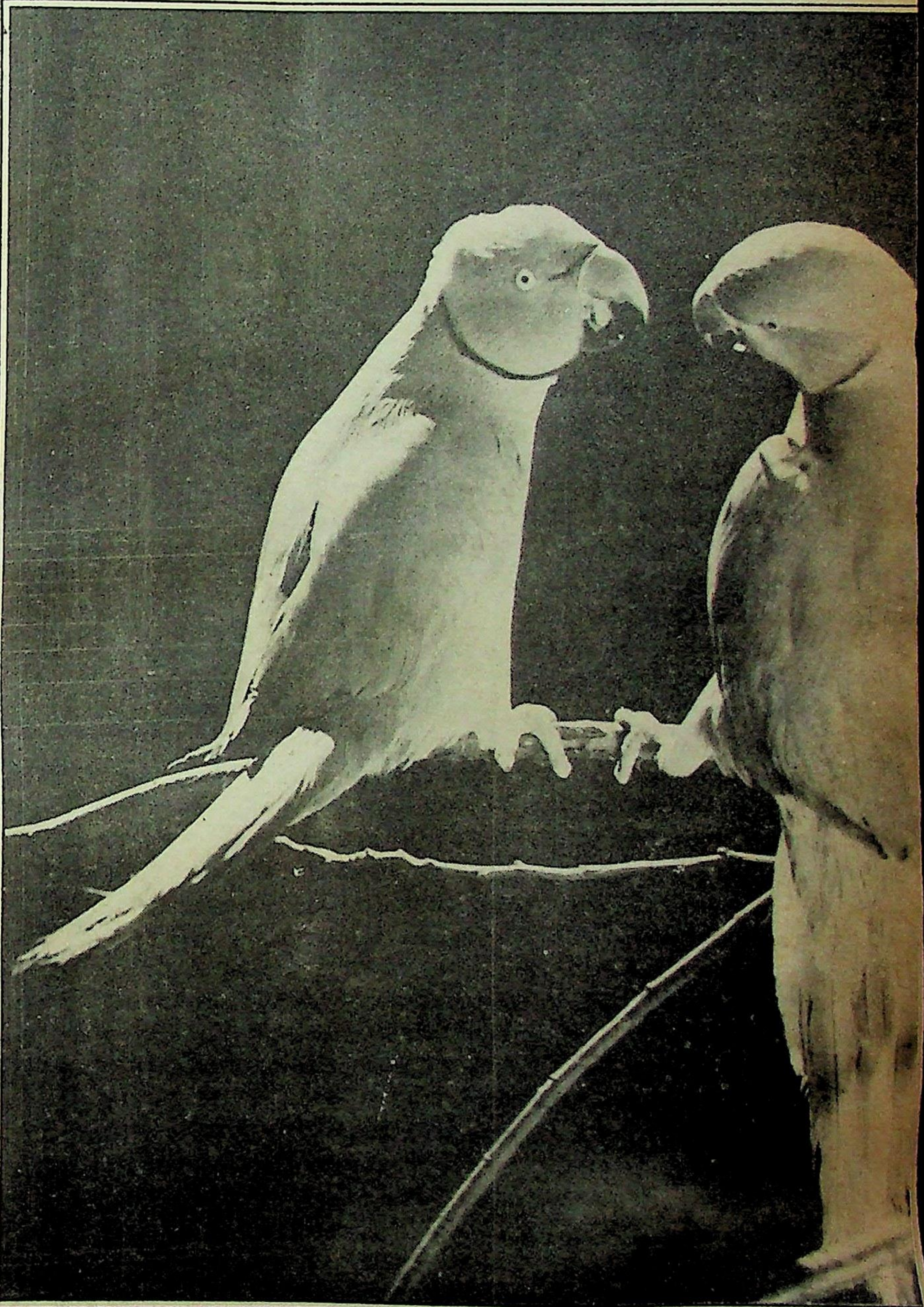

इस चित्र का कोई मनपसंद शीर्षक, पोस्टकार्ड पर अपने नाम-पते सहित 15 मार्च, 84 तक इस पते पर भेज दें—संपादक : सारिका (तस्वीर बोलती है : 348) 10 दरियागंज, नई दिल्ली-110002. चुने गये तीन शीर्षकों पर क्रमशः 50, 30 और 20 रुपये के नकद पुरस्कार दिये जायेंगे. आप कितने भी शीर्षक भेज सकते हैं, लेकिन हर पोस्टकार्ड पर ऊपर प्रकाशित 'तस्वीर बोलती है' बतौर कूपन चिपकाना आवश्यक है. एक कार्ड पर केवल एक ही शीर्षक भेजें

छाया : ज्ञान दीक्षित; दीक्षित भवन, कसेरू खेड़ा, मेरठ (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरोध...
जिससे आपको अच्छी तन्दुरुस्ती, स्वास्थ्यलाभ तथा दूसरा बच्चा आने से पहले कुछ समय मिल सके

पहले बच्चे के जन्म के बाद दूसरे बच्चे के जन्म के लिये आपको समय का काफी अन्तर रखना चाहिये। और इसमें निरोध आपकी सहायता करता है ; आपके अगले कदम की योजना के लिये।

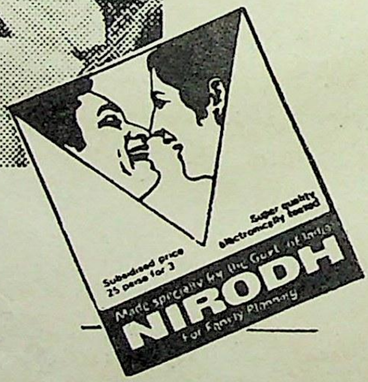

निरोध प्रयोग कीजिये

सुखी और निश्चिन्त वैवाहिक जीवन के लिये—

वितरक : ब्रुक-बॉण्ड, लिपटन, हिन्दुस्तान लीवर, आई. टी. सी., टाटा ऑयल मिल्स, यूनियन कॉरबाइड, आईडीपीएल, स्मिथ स्टैनिस्ट्रीट, इण्डियन ऑयल कॉरपोरेशन, भारत पेट्रोलियम, हिन्दुस्तान पेट्रोलियम और आरासन मैच इण्डस्ट्रीज.

davp 83/220

Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युवा-लेखन कहानी प्रतियोगिता

जुर्म

• नर्मदेश्वर

इसके बावजूद कि वे लोग भीख न मांगकर हाड़तोड़ मेहनत करना चाहते हैं, क्या वजह है कि उन्हें कुछेक लोगों के समक्ष लाठी की तरह गिरकर दंडवत प्रणाम ही करते रह जाना पड़ता है?...सिर्फ रूखी-सूखी खाकर जीने की चाहत के बावजूद मजबूर हो जाना पड़ता है कि उनके दमदार हाथ चोरी करने लगें?—शहरी जिंदगी से दूर शोषण के कुचक्र में फंसे हमारे ही साथी इंसानों की खौफजदा कहानी—

टार्च की रोशनी नीचे उतर रही है. कौन होगा? पीछे चलनेवाले की धड़कन तेज हो गयी. उसने आगेवाले की राय जाननी चाही, कंधा पकड़कर उसे रोका और घाटी कीं ओर इशारा किया. कुछ देर तक दोनों शांत खड़े रहे. रोशनी के आगे कोई चलता होता तो जरूर नजर आता. टार्च वाले के पीछे चलने का कोई सवाल ही नहीं उठता. इतनी रात गये घाटी उतरने वाला कौन हो सकता है?... जरूर यह जंगल का सिपाही होगा. रात को वह बंगले पर नहीं रहता. हर शाम पहाड़ उतर आता है और बगलवाले गांव में किराये के मकान में रहता है. अब तक कहां अटक गया था. जरूर कोई खास बात होगी. हाकिम लोग शिकार खेलने आये होंगे या ठेकेदार ने जलसा—पानी का इंतजाम किया होगा. रोशनी बीच रास्ते में रेंग रही है. कभी भी वह उन पर पड़ सकती है. डोमा मुड़ा और अपने पीछे थमे परसु को खींचते हुए झरने की ओर चलने लगा.

झरने का रास्ता काफी खतरनाक है. बरसात में इस रास्ते ऊपर चढ़ना तो दूर, आर-पार भी नहीं जाया जा सकता. जाड़ा आते-आते पानी का बहाव थमने लगता है और गरमी के दिनों में पानी हांफते कुत्ते की तरह ऐसी जगहों में दुबक जाता है जिनका पता डोमा के अलावे उनमें से किसी को नहीं होता. इस रास्ते ऊपर चढ़ने में परसु का ईमान कांप जाता है. इस रास्ते चढ़ना-उतरना जोखिम का काम है. बोझा लेकर नीचे उतरना तो एकदम असंभव है. चढ़ाई भी इतनी खड़ी और सीधी है कि इस रास्ते की ओर मुंह करना हिम्मत का काम है. लेकिन डोमा को यह रास्ता काफी पसंद है. खतरा मोल लेना उसकी आदत है. पहाड़ की तरह खामोश डोमा के भीतर हरदम जैसे कोई झरना उमड़ता रहता है. चलता है तो रुकने का नाम नहीं लेता. झरने का रास्ता हो या घाटी की चढ़ाई, वह माथे पर पहुंचकर ही दम लेता है.

डोमा आगे बढ़ता रहा. परसु ने उसे रोकना चाहा. पुकार सकता नहीं था, झल्लाकर रह गया. एक तो पुकारने की आवाज से पूरा करगा गूंज जाता. रात को आवाज बहुत दूर तक जाती है. दूसरे डोमा गूंगा-बहरा है. डोमा बोल-बतिया नहीं सकता तो क्या सोच भी नहीं सकता कि उसके साथी भी आसपास ही होंगे. सभी आगे-पीछे ही चले हैं. एक साथ चलने में खतरा था. कोई भी उन्हें देखकर शक कर सकता था. रात को वे लकड़ी काटने नहीं जाते. आरा लेकर तो दिन में भी नहीं जाते. आज सबके पास टांगी तो है ही, डोमा के कंधे पर आरा भी है. आरा देखकर कोई भी अंदाज लगा सकता था कि वे कहां जा रहे हैं.

डोमा ने नहीं सुझाया होता तो वे आरी लेने की बात सोच भी नहीं पाते. एक हाथ पर दूसरे हाथ की हथेली रेतते हुए उसने पेड़ को इस तरह से गिरते दिखलाया था जैसे बिना किसी आवाज के उसे धरती पर सुला दिया हो. आज सुबह से ही वह फेंकु

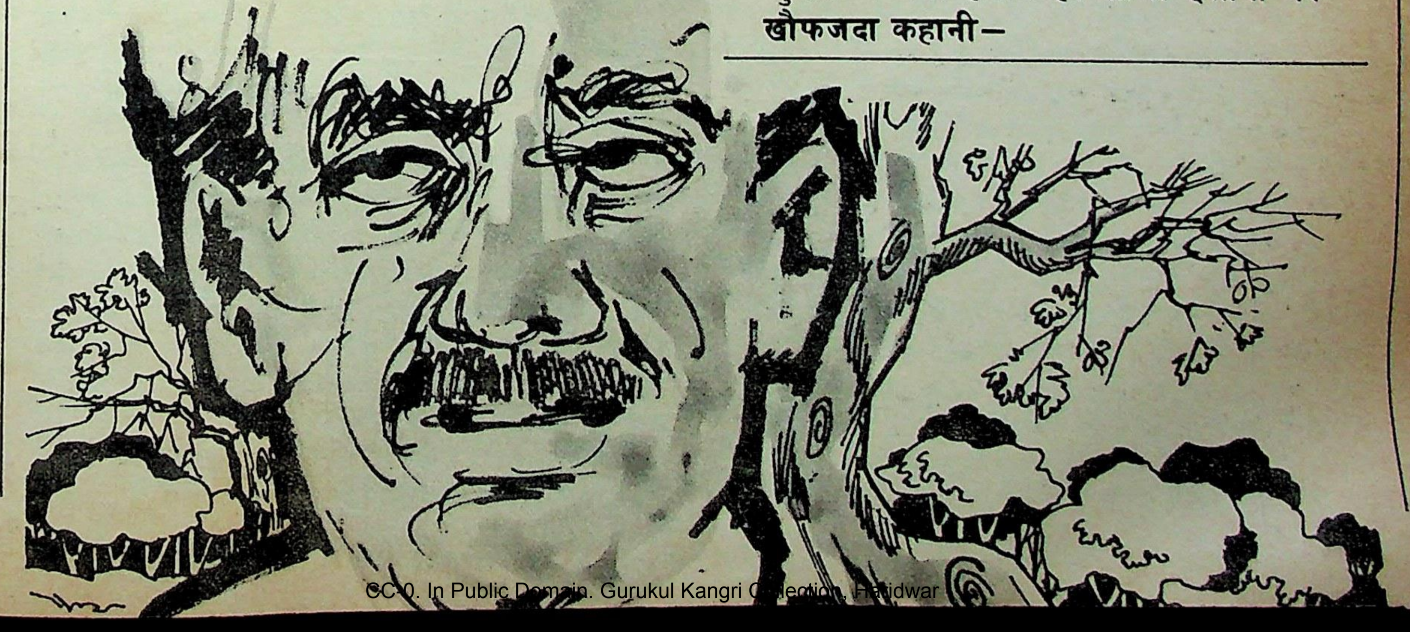

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिस्त्री के घर के चक्कर आरा की जुगाड़ में लगा चुका था. फेंकू मिस्त्री को न जाने क्या समझाकर उसने आरा लेकर ही दम लिया. सरूप काका नहीं होते तो आज की योजना भी तो उनके दिमाग में नहीं आती. खैनी ठोंकते हुए उसने सबके सामने जब यह प्रस्ताव रखा था तो एक बारगी उनमें खुशी की एक लहर दौड़ गयी थी. परसु और बलदेव तो खुशी के मारे उसी वक्त टांगी लेने चल पड़े थे. लेकिन मंगरी दादी ने उन्हें सुबह के वक्त जाने के खतरों से सावधान कर दिया. वरना सभी उसी वक्त जंगल चल देते. देवधर जाते और दूना दुःख मोल लाते. वैसे तो मंगरी दादी हरे पेड़ काटने के पक्ष में नहीं थी, लेकिन सरूप काका के बहुत समझाने पर वह तैयार हो गयी.

उसे मंगरी दादी की याद आयी. दादी के लिए रात की यह यात्रा कितनी तकलीफदेह होगी. वह सत्तर पार कर रही होगी. उसके शरीर का सारा मांस सूख गया है. आंखें जवाब देने लगी हैं. फिर भी वह पहाड़ जरूर चढ़ती है. पेट के लिए सब कुछ करना पड़ता है. आधा मन से अधिक बोझ तो वह दिन में भी नहीं ढो पाती. आज रात उसकी क्या जरूरत थी. कहीं गिर-फिसल गयी तो सब गुड़ गोबर हो जायेगा. सबने एक राय से गोलों की बिक्री का बराबर हिस्सा उसे देने का वायदा किया था. आज वह साथ नहीं भी आती तो कोई फर्क नहीं पड़ता. अपने हिस्से के लिए निश्चिंत थी. लेकिन वह नहीं मानने वाली. वह जरूर आयेगी. दादी सबको बच्चा समझती है.

डोमा आगे निकल गया था. परसु ने आंखें फाड़कर देखने की कोशिश की. अंधेरा काले भालुओं की तरह झाड़ियों में पसरा था और पगडंडी उजली लकीर की तरह अंधेरे में बिछी थी. उसके साथी कहीं नहीं दिखे. कहां रह गये? टार्च की रोशनी देखकर कहीं दुबक तो नहीं गये. जरूर नीचे झाड़ियों में छिपे होंगे. नदी के दोनों ओर घनी झाड़ियां हैं. उनकी शाखायें एक-दूसरी के साथ कसकर गुंथी हुई हैं. क्या मजाल कि सूरज की किरणें नदी के पानी को देख सकें. टार्च की रोशनी की क्या बिसात? लेकिन वे झाड़ियों में छिपे हों तब तो. कहीं अंधों की तरह बढ़ते रहे और सिपाही उन्हें देख ले, तब ? लेनी की देनी पड़ जायेगी. परसु अज्ञात आशंका से कांप उठा. वह निर्णय नहीं ले पाया कि दौड़कर डोमा को रोके या पीछे आ रहे साथियों का इंतजार कर ले. अच्छा हुआ कि डोमा उसके लिए नहीं रुका. अंधेरे में झरने के रास्ते चढ़ने से अच्छा है कि पीछे छूट गये साथियों के साथ-साथ घाटी चढ़ा जाये. परसु पांव के नीचे चट्टान पर थसक गया. सदाबहार संजीवनी बूटी सूखी काई की तरह चट्टान से चिपकी थी. बैठे-बैठे परसु पहाड़ के टोंगर से बाहर निकली चट्टान को देखता रहा जो अंधेरे में दैत्याकार जबड़े की तरह मुंह बाये खड़ी थी. सिपाही का चेहरा भी कुछ इस तरह डरावना लगता है. डांट दे तो लकड़हारे पेशाब कर दें. सिपाही की याद आते ही परसु के दिमाग में उस दिन की घटना फिर ताजा हो आयी. घाटी के माथे पर नीम की छांह में बैठा वह अपने साथियों का इंतजार कर रहा था. बड़ी देर के बाद उसके साथी दिखलायी पड़े थे. किसी के सर पर बोझा नहीं था. सरूप काका, मंगरी, डोमा, बलदेव सबके चेहरे उतरे हुए थे. कोई कुछ बोल नहीं रहा था. उनकी चुप्पी उसे असह्य लगी थी.

'क्यों काका, आखिर बात क्या है? न लकड़ी का पता है, न टांगी का. तुम सभी मुंह लटकाये क्यों हो?' सरूप काका चुप. मंगरी दादी गुमसुम. डोमा बोलने से लाचार. उसकी आंखों में जैसे जंगल की आग सुलग रही थी. उसने बलदेव की ओर देखा था जो चट्टान पर टांगी पजाने से खिंच गयी गहरी लकीर पर बार-बार अपनी अंगुली खींच रहा था.

'जा कर पूछ लो सिपाही के बच्चे से. कहता है, टांगी पीछे पांच रुपये देने होंगे. नहीं तो लकड़ी नहीं काटने देगा. आज बहुत लोग पकड़े गये हैं.' बलदेव पास की झाड़ी में चला गया था. 'हम हरी लकड़ियां नहीं काटते. बड़ा आया है रुपया लेने.'

'चोरी के जमाने में तुमने मैट्रिक क्या पास कर लिया, जहां देखो वहीं भाषण झाड़ने लगते हो.' बलदेव की बात उसे कच्चे बेर की तरह कसैली लगी थी. आगा-पीछा सोचकर उसने कुछ जवाब नहीं दिया था.

'जमींदारी चली गयी. पर उस समय भी इतनी तसील नहीं लगी. अपना राज आया है तो रोज नया कानून बनता है. नून, खून, कानून.....आक्थू' खैनी की पीक थूकते हुए सरूप काका बुदबुदाये थे, 'सरकारी हुकुम होगा बेटा. इसमें सिपाही की क्या गलती ?'

'तुम नहीं समझते काका. बांस, शीशम, सागवान, नीलगिरि क्या-क्या नहीं लगवाया गया इसी पहाड़ पर तेरी आंखों के सामने. पर क्या हुआ सब कुछ ? ये सरकारी कुत्ते न जाने कितने हरे-भरे जंगल चबा गये. पेड़ों को सुखाने के लिए उनमें छेद करके दवा ये भरते हैं. बीड़ी-पत्ती के ठेकेदारों से जंगल ये कटवाते हैं. इनके दांत तोड़ने होंगे काका. नहीं तो ये हमें भी चबा जायेंगे.'

'मैं तो उस दिन ही समझ गया था कि पहाड़ पर इतनी चौड़ी सड़क क्यों बनवायी जा रही है. सिर्फ इसलिए कि जंगल को ट्रकों पर लाद कर बाजार पहुंचाया जा सके. सरकार भी अंधी हो गयी है बेटा. सखुआ का जंगल काटकर कीमती घास उगाने की बात मेरे भेजे में नहीं घुसती.'

'राम, राम. हरे-भरे पेड़ मुझे दूध मुंहे बच्चों की तरह लगते हैं. उन्हें काटना महापाप है.' मंगरी दादी ने सर हिलाया था. 'हम रुपया कहां से लायेंगे, बेटा. वन देवी की कृपा से किसी तरह रोटी चल जाती थी. अब उस पर भी आफत है.'

'हम एक पैसा भी नहीं देंगे काका. देखें सिपाही हमारा क्या कर लेता है ? यह टांगी हमें रोटी देती है. सिपाही हमारी रोटी नहीं छीन सकता.' अपनी टांगी पर एकटक देखते हुए उसने निर्णय लिया था.

चाहते तो फी टांगी पर पांच रुपये देकर वे सिपाही से सुलह कर लेते. पर उन्हें यह सौदा मंजूर नहीं था. बात भी तो महीनों और सालों की नहीं थी. यह तो उनकी रोजी-रोटी और जिंदगी का सवाल था. बात बढ़कर वन विभाग के डी.एफ.ओ. तक चली गयी. उनके आफिस से नोटिस आयी. तब जाकर पता चला कि सब पर बांस काटने का आरोप है. परसु पर भी. वह तो उस दिन था भी नहीं. सब पर तीस-तीस रुपये का हर्जाना लगा है. कल ही हर्जाना भरने की आखिरी तारीख है.

नोटिस आये दस दिन से ऊपर हो गये. एक दिन भी वे कहां बैठे हैं. लकड़ी के गट्ठर रोज बाजार पहुंचाते रहे हैं. पर रुपये वे

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं जुटा पाये. सारी कमीनी चूल्हा-चक्की में स्वाहा हो गयी. लकड़ी बेचकर वे खर्ची जुटायें या हर्जाना भरें. हर्जाना तो भरना ही पड़ेगा, हर्जाना नहीं तो कचहरी का चक्कर, चक्कर भी दो-चार दिन का नहीं, सालों का. सरूप काका कचहरी का नाम सुनते ही कांप उठते हैं. वकील ताईद, हाकिम, पेशकार सब-के-सब उसे सफेदपोश चीलर लगते हैं. खून चूसते हैं और पता भी नहीं चलता. सरूप काका भुक्त-भोगी है. पहले भी वह इस तरह के मुकदमे में फंस चुका है. उस वक्त वकील साहब कहते थे कि साफ रिहांई होगी. जुर्माना लगने के बाद कहने लगे कि इस तरह के छोटे मुकदमों में सजा अक्सर होती ही है. इस बार भी कम-से-कम जुर्माना तो देना ही पड़ेगा. जुर्माना नहीं चुकाने पर जेल. जुर्माना चुकता करने के लिए समय भी नहीं मिलेगा. फैसला हुआ नहीं कि पैसा जमा करो. नहीं तो नौलखा इमारत के अंदर जाओ. जुर्माना कितना लगेगा, यह पहले से पता हो एक बात है. यहां तो सब कुछ हाकिम की मर्जी पर है. भगवान की तरह उनके दिमाग का भी कोई ठिकाना नहीं होता. इसीलिए सरूप काका कहते हैं कि कचहरी जाना गोइठा में घी सुखाना है. कचहरी में मुकदमा लड़ने और जुर्माना भरने से वन-विभाग के आफिस में हर्जाना भर देना कहीं बेहतर है.

हर्जाना के रुपये जुटाने के लिए सरूप काका ने पितरिया का लोटा बंधक रख दिया. पानी पीने के लिए अकेला लोटा था. पर उसके एवज में सेठ ने सिर्फ दस रुपये दिये. मंगरी दादी ने देखा-देखी अपनी बकरी बेच दी. लेकिन रुपये वह कहां बचा पायी. अपनी सुसराल से इकलौती बेटी अस्पताल लायी गयी. उसकी हालत बहुत खराब थी. बचने की कोई उम्मीद नहीं थी. खबर सुनकर दादी अस्पताल गयी और सारे रुपये दवा-दारू में लगा आयी. अभी परसों ही वे मुखा साह के पास गये थे. अक्सर वे उसकी दूकान पर लकड़ी देते हैं. पर वह भी रुपये देने से साफ मुकर गया. आठ-दस दिनों के भीतर उन्होंने लकड़ी देकर रुपये पटा देने की कसम खायी. बहुत आरजू-मिन्नत की. फिर भी वह रुपये देने के लिए नहीं तैयार हुआ. जरूरत पर दस-पांच भी नहीं मिलता. उधार कोई देता नहीं. थक-हार कर वे उदास हो गये थे. कोई उपाय नहीं सूझ रहा था. बहुत राख उटकेरने के बाद चिंगारी की तरह यह युक्ति मिली थी. सरूप काका ने सुझाया था, 'सूखी लकड़ियां बटोरकर और कटीली झाड़ियां काट कर हम हर्जाना नहीं भर पायेंगे.'

परसु एक झटके से उठा और थोड़ा ऊपर आकर पूरी घाटी पर सचेत निगाह डाली. टार्च वाला नीचे उतर कर पगडंडी पकड़ चुका था. लौटती हुई निगाह कुंड के आस-पास जाकर ठहर गयी. दो-तीन परछाइयां हिलती नजर आयीं. जरूर उसके साथी होंगे. घाटी की ओर बढ़ते हुए उसके कदम तेज उठने लगे. माथे तक जाते-जाते वह उन्हें भेंट ही लेगा.

घुमावदार होने के चलते घाटी की चढ़ाई बहुत समय ले लेती है. घिसते-घिसते चट्टानें इतनी चिकनी हो गयी हैं कि गिरने का भय बराबर बना रहता है. जरा-सा चूके कि गिरे. हाल ही में पत्थर तोड़ने वाले गोड़ों ने छेनी चलाकर चिकनी चट्टानों को खुरदरा बना दिया है. फिसलने की संभावना अब कम हो गयी है. भला हो उन गोड़ों का जिन्होंने रास्ते को आसान बना दिया है. नहीं तो आज और मुश्किल होता. दादी कैसे आ पाती?

चांद उगने से पहले दादी ने सबको बुढ़िया माई के पास वाली चट्टान पर जुटने के लिए कहा है. आज आधी रात के आस-पास चांद निकलेगा. तब तक परसु घाटी के माथे पर जरूर पहुंच जायेगा. सबसे पीछे पहुंचने वाला वही होगा. उसके साथी माथे पर पहुंच गये हैं. आज वे रोज की तरह नीम के नीचे नहीं रुकेंगे. न जाने डोमा कहां होगा. जरूर वह बुढ़िया माई की चट्टान पर सो रहा होगा. वह जानता है कि सबको वहीं जमना है. अपने साथियों को छू लेने की इच्छा से उसके कदम तेज हो गये. अचानक उसका गमछा कंटीली झाड़ी से उलझ गया. एक कांटा छुड़ाता तो दूसरा फंस जाता. हड़बड़ी में वह जितनी जल्दी में था, उतनी ही देर हो रही थी. झुंझला कर उसने टांगी से झाड़ी पर एक जोरदार वार किया. कांटे की टहनी कट कर अलग हो गयी. और उसके गमछे से लटक गयी.

पहाड़ी के माथे पर आते-आते परसु हांफने लगा. वह नीम के पेड़ के नीचे फैली चौड़ी चट्टान पर बैठकर सुस्ताने लगा. ठंडी हवा में उसकी सारी थकान हवा हो गयी. हर रोज आते-जाते इसकी छाया में बैठकर बिना सुस्ताये आगे बढ़ना मुश्किल लगता है. यहां बैठकर वे रोज सुस्ताते और टांगी पजाते हैं. थोड़ी देर आराम करके वे अगली यात्रा के लिए भरपूर ताजगी बटोर लेते हैं. यहां से नीचे का सब कुछ बहुत साफ दिखता है. घाटी का सर्पाकार रास्ता, नदी-ताल-पोखर, पगडंडी, आस-पास के गांव और अपने गांव से गुजरती पतली सड़क. यह सड़क शहर के पूरब-पूरब सरदार जी की आरा-मशीन तक चली जाती है.

परसु अपनी योजना पर विचार करने लगा. सरदार जी की आरा-मशीन जी.टी.रोड के दक्षिण है. उसके ठीक उत्तर चाट में पानी भरा है. रातों-रात पहाड़ उतर कर वे शहर पहुंच जायेंगे. गोल-बल्ले चाट के पानी में डालकर वे निश्चिंत मोल-भाव करेंगे. सरदार जी से पहले ही तय कर लेना चाहिए था. अब वे कम दाम भी दें तो उन्हीं को बेचना ठीक होगा. चाट से गोल निकालकर उनकी दूकान में पहुंचा देंगे. गोल लेकर खुलेआम शहर का चक्कर लगाना खतरे से खाली नहीं. थाना-सिपाही कुत्तों की तरह मौका सूंघते फिरते हैं. पकड़े जाने पर किया-कराया सब चौपट हो जायेगा. पुलिस-दरोगा सब कमजोरों का ही पीछा करते हैं. मजबूत लोग उनकी पकड़ में नहीं आते. वे तो थाने में बैठ कर पान-चाय चबाते हैं. पुलिस उन्हें नहीं पकड़ती. असली अपराधी सड़कों पर अकड़ कर चलते हैं. लोग उनके सामने से हट जाते हैं. जैसे वे इंसान नहीं, आग बुझाने वाली पगली गाड़ी हों. कानून उनका कुछ भी नहीं कर पाता. मारे तो वे लोग जाते हैं जो कमजोर और लाचार हैं. वे जो किसी की फसल नहीं काटते. किसी का बाग नहीं उजाड़ते. कंटहवा तारों से घिरे सुरक्षित-वन में कदम भी नहीं डालते. पर पहाड़ जाना वे कैसे छोड़ दें. पहाड़ नहीं होता तो वे जिंदा नहीं रहते.

सूखे का वह भयंकर साल उसे साफ याद है. लोग भूखों मर रहे थे. दिल्ली से मंत्री जी आये थे. रेलवे मैदान में अपार भीड़ को संबोधित करते हुए उन्होंने पहाड़ की ओर इशारा किया था.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्थर तोड़ने से लेकर लकड़ी काटने और गुजर-बसर करने की सलाह उन्होंने खुद दी थी. मंत्रियों की जीभ पर तो सरकार वास करती है. उनके बताए हुए रास्ते सरकार के कानून के खिलाफ कैसे जायेंगे. न कोई जमीन, न जायदाद. न हल-बैल, न पूंजी-पगहा. रोटी के लिए लकड़ी नहीं काटें तो और क्या करें.

विचारों में खोया परसु पूरनी बथान से आ रही भैंसों की बोंग सुनकर उठ खड़ा हुआ. उनकी बांय-बांय सुनकर उसके रोंगटे खड़े हो गये. जरूर कुछ गड़बड़ है. उनकी घंटियां जोरों से टनटना रही हैं. बथान में कोई सांप घुस आया होगा. शायद इसीलिए भैंसें बिजूक गयी हैं. लेकिन बोंग क्यों मार रही हैं? जरूर कोई खतरनाक जानवर होगा. परसु ने टांगी पर अपनी पकड़ मजबूत कर ली. वह घास के मैदान से होकर बथान की ओर बढ़ने लगा. घुटनों तक बढ़ आयी घास अब सूखने लगी थी. चलते वक्त चर-चर की आवाज होती थी. चोर-कांटे सेंध मारकर कपड़ों में घुस जाते थे, महुआ के पेड़ के नीचे खड़ा होकर उसने बथान की स्थिति का जायजा लेना चाहा. बथान और उसके बीच सिर्फ चौड़ी सड़क थी. सड़क पार करने से पहले उसने जान लेना चाहा कि आखिर बात क्या है. तभी ट्रकों की घरघराहट सुनाई पड़ी. ट्रक मुड़े तो हैडलाइट की तेज रोशनी पूरे बथान को नहलाती हुई कहीं गुम हो गई. इतनी ही देर में उसने देखा कि बथान के बाड़े के पास एक चीता घुड़का बैठा है और भैंसें एकजुट होकर खड़ी हैं. भैसों के चूतड़ केंद्र में थे और उनकी सींगें गोलाकार परिधि में तैयार तनी हैं. परसु को लगा कि वे मुकाबले के लिए तैयार हैं. चीता उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता.

एक, दो, तीन ट्रक एक साथ गुजर गये. अगले दो ट्रकों पर लकड़ियां लदी थीं. पिछले पर भी होंगी. ये लकड़ियां सखुआ के जंगल की हैं. लगभग पूरा जंगल कट चुका है. पेड़ इस तरह से कटते रहे तो पूरा जंगल वीरान हो जायेगा. परसु को सरकार पर क्रोध आया. पेड़ काटकर घास उगाने की योजना बेवकूफी नहीं तो और क्या है? सरकार को जंगल से क्या मतलब? यह तो उनके पूर्वजों की संपत्ति है. इस पर ठेकेदारों का हक कैसे हुआ? सरकार को पेड़ ही कटवाने थे तो इसका ठेका लकड़हारों को क्यों न दिया गया? हर लकड़हारा एक पेड़ का ठेका तो ले ही सकता था. इसके लिए उन्होंने धरना दिया. विभाग का घेराव किया. कहां हुआ कुछ भी?

बथान में भैंसों की बांय-बांय थम गयी थी. शायद चीता ट्रकों की रोशनी और घरघराहट से भाग गया हो. वैसे भी बथान में रहने वाली भैंसों पर चीते का कोई वश नहीं चलता. बाघ-चीते से भैंसों के मुकाबले की कहानियां उसने पहले भी सुनी थीं. चीते के भाग जाने से उसे खुशी हुई. बेफिक्री में उसके हाथ कानों पर चले गये. वह बिरहा अलापने ही वाला था कि कुछ सोच कर रुक गया. बथान से थोड़ी दूर पूरब कंटहवा तारों से घिरा सुरक्षित वन फैला था. सागवान और नीलगिरी के ऊंचे-लंबे पेड़ों पर पारे ऊंघ रहे थे. बंगले में अंधेरा था. कोई होता तो आग जलती होती या रोशनी टिमटिमाती. पीलिया के रोगी की तरह उदास चांद टोंगर से बाहर निकल आया था. देर हुई जानकर परसु झरने की ओर दौड़ पड़ा. झरना कोई खास दूर नहीं. फिर भी वह जल्दी में था. उसके सभी साथी इकट्ठा हो गये होंगे.

■ नर्मदेश्वर
जन्म: 15 फरवरी, 1946
शिक्षा: एम.ए.बी.एल.
दो मित्रों के साथ अनियतकालिक 'अब' का संपादन और पत्रिकाओं में कहानियां प्रकाशित. समसामयिक सोच की संस्था 'प्रगति' के सचिव. पेशे से अधिवक्ता.

नीचे बुढ़िया माई की चट्टान से उसके साथियों की बतियाने की आवाज आ रही थी. सिंदूर की आड़ी-तिरछी रेखाओं से रंगी यह चट्टान महज पत्थर नहीं, एक औरत है जिसे लोग बुढ़िया माई कहते हैं, शादी-विवाह या अन्य अवसरों पर औरतें यहां आती हैं और बुढ़िया माई को सिंदूर-टिकुली और मिठाई चढ़ाती हैं. कहते हैं, यह बुढ़िया माई यहां के किसी जमींदार ठाकुर की बहू थी. उसके मायके से नाई तीज लेकर आया था. आदमी-जन को दुबारा परोसन नहीं दिया जाता. इसलिये बुढ़िया माई ने उसे कुछ फुलौरियां भात के नीचे छुपाकर दे दिया था. नाई बेचारा असमंजस में था. जमींदार साहब भी दूर बैठे भोजन कर रहे थे. वे भांप गये थे कि दाल में जरूर कुछ काला है. इसी चलते बुढ़िया माई को पहाड़ के नीचे ढकेल दिया गया था. इतनी-सी बात के लिए ऐसी कठोर सजा. परसु का मन ठाकुर के प्रति घृणा से भर उठा. एक शाख के सहारे वह नीचे कूद गया. उसके साथी सहम कर एक बारगी चुप हो गये. वह नहीं हंसा होता तो वे डर गये होते.

'हम तो डर ही गये थे, आओ; माई को माथा झुकाओ और मनाओ कि हमारी यात्रा सफल होवे.' चट्टान पर माथा रगड़ते हुए मंगरी दादी मनौती मान रही थी; 'तुम्हें फिर सिंदूर चढ़ाऊंगी माई. किसी तरह हर्जाना भरने की जुगाड़ बैठा दो.'

'दुहाई बुढ़िया माई की. सिर्फ तुम्हारा ही भरोसा है. ऐसी कृपा कर दो कि सुरक्षित-वन से गोल काटकर हम रातों-रात शहर पहुंच जायें.' मारकीन के गमछे की पगड़ी उतारकर सरूप काका ने चट्टान पर रख दी . प्रणाम करते वक्त उसका माथा चट्टान से ठक-से टकराया.

डोमा सर झुकाए बैठा था. वह उठा और आरा को चट्टान पर किनारे रख दिया, माई को दंडवत करने के लिए वह लाठी की तरह पसर गया. परसु और बलदेव एक साथ हाथ जोड़कर कुछ देर तक विनती करते रहे. डोमा वापस मुड़ा और दादी का हाथ खींचते हुए ऊपर चढ़ने लगा. सिर्फ एक जगह चढ़ाई काफी ऊंची थी. डोमा शाख के सहारे ऊपर चढ़ गया. सबसे पहले उसने दादी को ऊपर खींच लिया: उसके बाद उसने सरूप काका को खींचा. फिर बलदेव को. फिर परसु को. टिटिहरी की आवाज उनके ऊपर गूंज उठी. □

■ 'अब' 743, गोरक्षिणी पथ, सासाराम-821115

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथा-सूत्र

अनुभवहीन आदमी मुर्दा है

• राकेश वत्स

आधुनिक मानसिकता के धनी टैगोर ने अपने 'नंदिनी' नाटक में एक पात्र के मुख से कहलवाया है—"सुंदरता तो नरक में भी होती है, पर वहां के लोग उसे समझ नहीं पाते, यही उन को दिया गया सबसे बड़ा दंड है."

मेरा विनम्र निवेदन है कि धरती पर भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जिनमें कुरूपता को भी समझने की शक्ति नहीं है, इनको स्वर्ग का वरदान पाए लोग कहना कहां तक उचित होगा ?

वास्तव में सुंदरता ओर कुरूपता, दोनों की पहचान का स्रोत एक ही है, और वह है अनुभव. जिसके पास यह स्रोत नहीं है, वह शारीरिक तौर पर जिंदा होते हुए भी मन और मस्तिष्क के लिहाज से मुर्दा है. यह इस आधार पर भी कि दिल धड़क रहा हो तब भी, यदि मस्तिष्क काम करना बंद कर दे तो नयी वैज्ञानिक मान्यताएं आदमी को मृत घोषित करने में बहुत कम संकोच करती हैं.

जिस प्रकार शरीर को हम प्रयत्न पूर्वक बहुत कुछ सिखाते हैं, उसी प्रकार हमारा मन और मस्तिष्क भी बहुत कुछ सीखता है. शरीर को शिक्षित करने का साधन अभ्यास कहलाता है और मन तथा मस्तिष्क को शिक्षित करने का साधन अनुभव. अनुभवों की समग्रता के सार के रूप में ही आदमी को बोध या दृष्टि प्राप्त होती है. दृष्टि के लिए बड़े-बड़े पोथे पढ़ना नितांत जरूरी नहीं है. इसके लिये जिंदगी की किताब को पढ़ लेना ही काफी होता है. महाकवि कबीरदास का 'पोथी पढ़ पढ जग मुआ' वाला कथन, अनुभव की ही महत्ता को उजागर करने वाला कथन है.

अनुभव बिना प्रयत्न के भी अर्जित किया जा सकता है और प्रयत्न द्वारा भी. लेकिन गर्व उन्ही अनुभवों पर किया जाना चाहिये, जिन्हें आदमी सप्रयास यानी कि घोर खतरे और जोखिम उठाकर स्वयं अर्जित करता है. उदाहरण के लिये भाषा और बोली को सीखना भी एक अनुभव है. मातृ भाषा को आदमी बिना किसी खास प्रयत्न के ही सीख लेता है, जबकि दूसरी किसी भाषा को सीखने के लिये उसे परिश्रम करना पड़ता है.

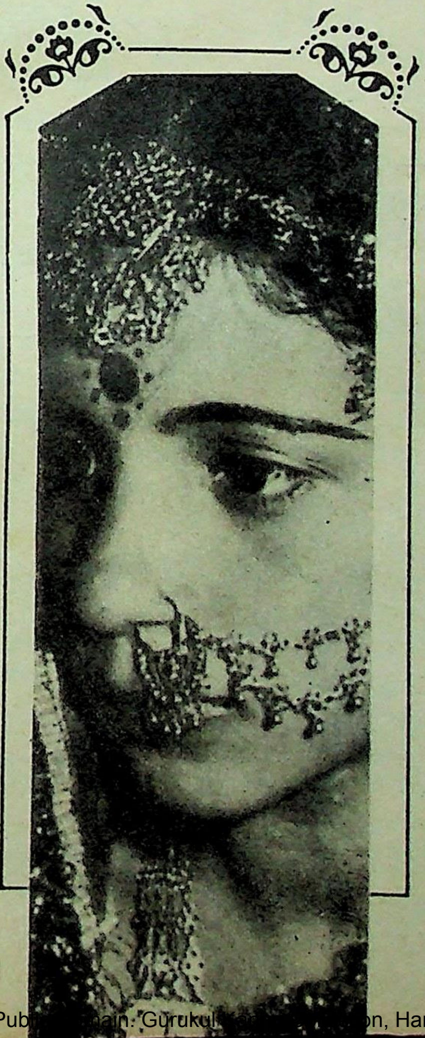

हठयोग या अध्यात्म भी अनुभव अर्जित करने का एक जरिया है, क्योंकि उसके द्वारा हम मन और मस्तिष्क को, नियोजित ढंग से, एक विशेष प्रकार की सीख देते हैं. योगियों द्वारा प्रचारित जीवन का चरम सत्य-परमात्मा का साक्षात्कार-योजनाबद्ध और कठोर परिश्रम द्वारा प्राप्त किया गया एक खास किस्म का अनुभव नहीं तो और क्या है?

जन-जीवन के लिए अनुभवजन्य बोध या संचेतन की सबसे बड़ी उपयोगिता यही है कि इससे मृत्यु मृत्यु और नरक के भय और सांस बनाए रखने तीाा स्वर्ग के लोभ से मुक्त होने का रास्त खुलता है. इतिहास गवाह है कि इन दोनों कमजोरियों का सहारा पाकर शोषकों ने आदमजात को मनमाने ढंग से चूसा है. अनुभव आदमी द्वारा आदमी पर किये जाने वाले अत्याचार से निजात दिलाने का सबसे बड़ा जरिया है.

लेकिन अनुभव मुफ्त की चीज नहीं है. जिन्हें हम भ्रमवश अनुभव समझकर छाती के साथ चिपका लेते हैं वे मुफ्त की चीज संस्कार होते हैं. अनुभव तो कीमत दिये बगैर छुए तक नहीं जा सकते. जितना बड़ा अनुभव उतनी बड़ी कीमत. यानी कि जितना बड़ा जोखिम उतना बड़ा अनुभव. रूढ़ संस्कार तो अनुभवों की खुराक हैं. यदि किसी को कीमती अनुभव अर्जित करने का शौक हो तो संस्कारों का बलिदान तो उसे करना ही पड़ेगा. समाज में परिवर्तन देखने के शौकीनों को 'डर' के संस्कार से तो हाथ धोना ही पड़ेगा.

ऊपर से देखने पर लग सकता है कि आज का समाज ह्रास की तरफ जा रहा है, पर वास्तविकता यह है कि अनुभवों को अर्जित करने के लिहाज से इसने बढ़ी खूब-खूब तरक्की की है. आज के युवकों में अनुभवों के लिये बलिदान देने का माद्दा बढ़ा है. किताबों की रूढ़ शिक्षा के साथ-साथ वे अनुभवों की ताजगीभरी शिक्षा को भी अहमियत देने लगे हैं. युवतियों की जिंदगी में भी संकीर्ण बनाए रखने वाले ढर्रे टूटे हैं. वह शोषण के खिलाफ आवाज बुलंद करती हुई, अपने जायज अधिकारों के लिए सड़कों पर निकल पड़ी है. इसे आने वाली पीढ़ी का अनुभवजन्य जागरण ही कहा जा सकता है. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul ... on, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैरंग चिट्ठी

•अब्दुल बिस्मिल्लाह

वहिद्दू चाहता है कि उसका बेटा उसकी तरह चिट्ठीरसा नहीं बल्कि एक बड़ा अफसर बने. इसके लिए वह हर कुछ करने को तैयार भी है मगर महज उसके तैयार होने से क्या यह संभव है...? अपने हालात से नाखुश फिर भी उन्हीं हालात में जीते रहने को विवश कर दिये गये वर्ग की व्यथा को अभिव्यक्त करती कहानी—

वहिद्दू ने उस रोज जल्दी-जल्दी अपना काम निबटाया और घर चलने के लिए तैयार हो गया. उन दिनों उसकी ड्युटी मनीआर्डर और रजिस्ट्रियां वगैरह बांटने में लगी हुई थी. हर इलाके के लिए दो-दो चिट्ठीरसा नियुक्त हैं, जो बारी-बारी से कभी चिट्ठियां तो कभी मनीआर्डर और रजिस्ट्रियां बांटा करते हैं जिस दिन एक चिट्ठीरसा छुट्टी पर होता है उस दिन दूसरे को ही दोनों काम करने पड़ते हैं. वहिद्दू के साथ वाला चिट्ठीरसा तो अक्सर छुट्टी पर रहता है. अभी एक रोज पहले तक वह गायब था. उस रोज कई दिनों के बाद उसे थोड़ी राहत मिली थी अतः उसने तय किया कि आज जल्दी ही वह घर पहुंच जाएगा ताकि गुड्डू को क़ायदे से पढ़ा सके. इधर कई दिनों से वह नहीं देख पा रहा है उसे और बीवी है कि एकदम देहाती, उसके लिए तो काला अक्षर भैंस बराबर ही है.

वहिद्दू ने बची हुई रकम और रजिस्ट्री के पैकेट्स काउंटर पर जाकर जल्दी-जल्दी जमा किए और अपना खाकी थैला कंधे पर लटकाकर पिछले दरवाजे से बाहर निकल आया. सामने मास्टर बदरूद्दीन साहब खड़े थे. वह समझ गया कि अपनी रजिस्ट्री लेने आए होंगे. घर पर तो मुलाकात हुई नहीं थी. और उनकी बीवी इतनी कंजूस है कि मनीआर्डर पाने पर भी चार-आठ आने नहीं निकालती. कभी-कभी तो वह जानबूझकर खुले पैसे देता है साथ में, लेकिन वह औरत भी पूरी घाघ ही की बेटी है. क्या मजाल कि हथेली से कोई सिक्का खिसक जाय! इसलिए अब वह मास्टर बदरूद्दीन की अनुपस्थिति में रजिस्ट्री या मनीआर्डर कुछ भी नहीं देता उनकी बीवी को. अरे यही तो थोड़ी-बहुत ऊपरी आमदनी है उसकी, कौन कहो कि तनख्वाह ही बहुत ढेर-सी मिलती है...

"अरे वहिद्दू, आज बहुत जल्दी चल दिये!"

मास्टर बदरूद्दीन ने उसे लपककर पकड़ा तो वह रोहू मछली की तरह छिटक गया.

"हां मास्टर साहब, आज कुछ जल्दी ही है. घर में अहलिया की तबीयत कुछ खराब चल रही है, उसे डॉक्टर के यहां ले जाना है."

वहिद्दू साफ झूठ बोल गया.

"आप, ऐसा है कि कल सुबह तकलीफ कीजिए, अब इस वक्त तो नहीं हो सकता, सब जमा हो गया कांउटर पर."

"आपको घर में दे देना था...."

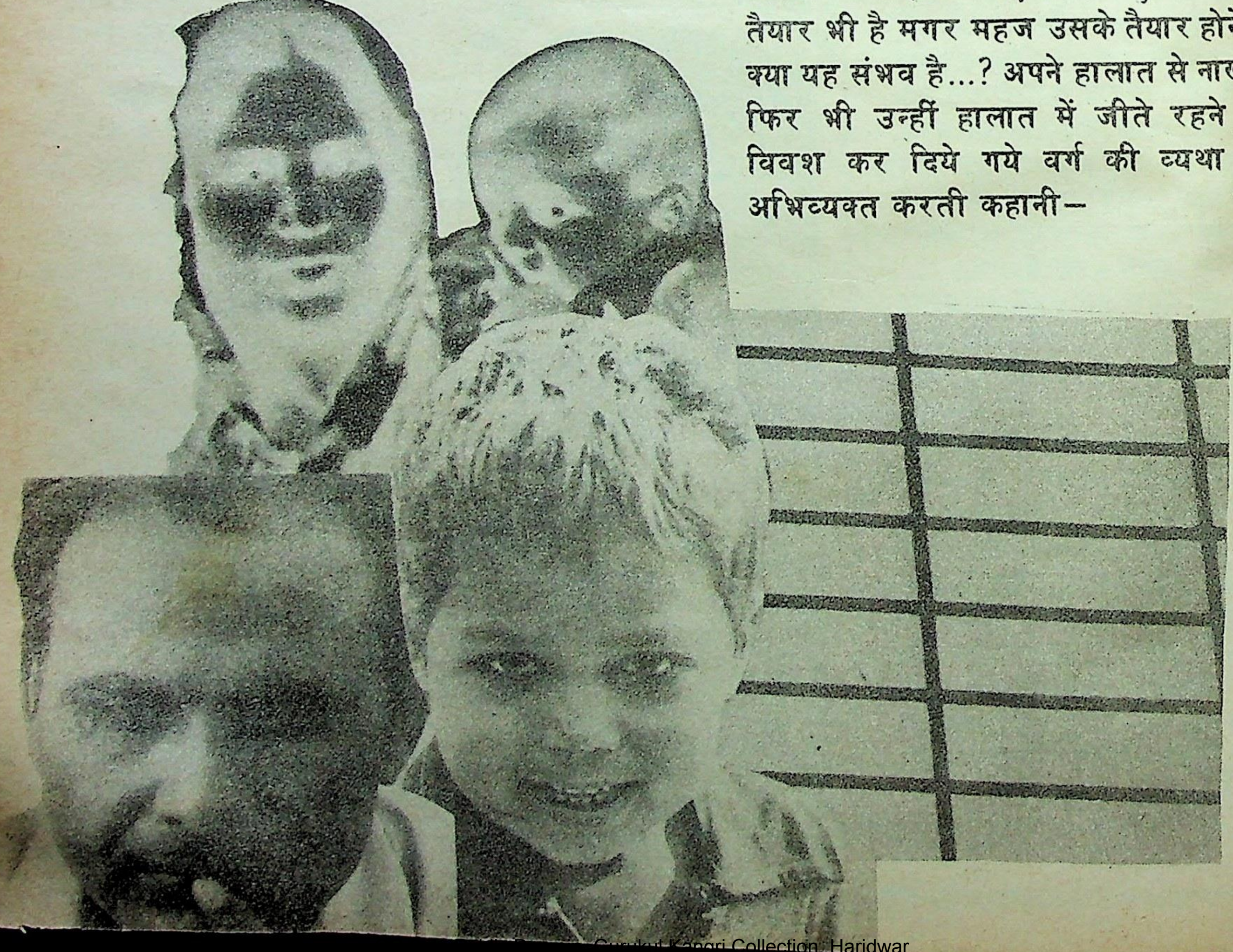

Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"हां वो तो ठीक कहते हैं आप, पर कभी-कभी ऊपर से ऐतराज हो जाता है. एक बार बड़ा झमेला पड़ गया, इसीलिए अब डर लगता है. आप चले आइएगा कल सबेरे साढ़े नौ-पौने दस तक, आप का काम हो जाएगा. और अगर घर पर ही मुलाकात हो सके तो फिर कोई बात नहीं."

और वह तेजी के साथ निकल गया वहां से. रास्ते में बाईं ओर जो डिपार्टमेंटल कैंटीन है, वहां कई साथी बैठे हुए थे और चाय के साथ गप्पें हांक रहे थे. उन्होंने उसे भी आर्षित करने की कोशिश की, पर वह सिर झुकाए हुए सड़क पर आ गया. यहां बैठने का मतलब है रुपये-आठ आने की कुर्बानी और घंटे-आध घंटे की बर्बादी.

वहिद्दू की एकमात्र इच्छा बस यही है कि उसका गुड्डू पढ़-लिखकर कोई बहुत बड़ा अफसर बने. इसलिए उसने निश्चय किया है कि चाहे खुद नमक-रोटी ही खाएगा, लेकिन बेटे को वह कान्वेंट में पढ़ाएगा, क्योंकि उसने सुन रक्खा है कि अफसर अक्सर वही लोग बनते हैं जो कान्वेंट में पढ़ते हैं. नगर महापालिका की टाट-पट्टी पर पढ़ने वाले बच्चे तो बस चिट्ठीरसा ही बन जायं तो बहुत है. कुछ और आगे बढ़े तो क्लर्क हो जाएंगे या किसी स्कूल में मास्टर बन जाएंगे. इससे ज्यादा भला क्या हो सकेगा? हां, कुछ दंद-फंद करेंगे तो भले ही इलेक्शन जीतकर मिनिस्टर-बिनिस्टिर बन जायं, पर हर आदमी तो ऐसा नहीं न कर सकता. इसलिए वहिद्दू चाहता है कि पहले से ही वह अपने बेटे को ऐसा माहौल प्रदान करे कि वह कम से कम चिट्ठीरसा तो न ही बने. वह तो गली-गली की धूल फांक ही रहा है, कम से कम उसकी नस्ल तो इससे बची रहे.

लेकिन सुनते हैं कि कान्वेंट में अपने बच्चे को पढ़ाना हंसी-खेल नहीं है. हाजी मुईनुद्दीन के पोते पढ़ते हैं न कान्वेंट में, कहते हैं कि एक बच्चे की फीस ही सिर्फ हो जाती है बहत्तर रुपये! यूनिफार्म अलग! टिफिन अलग! फिर बीच-बीच में तरह-तरह की फरमाइशें अलग! लेकिन वहिद्दू ने तय कर लिया है कि वह गुड्डू को पढ़ाएगा तो कान्वेंट में ही, चाहे जितना भी खर्च लगे! एक ही तो लड़का है, कौन कहो कि दस ठो बैठे हुए हैं पढ़ने के लिए. हां, एक परेशानी जरूर है उसके सामने; कि गुड्डू को इंटर्व्यू के लिए तैयार करना है. सुना है वहां बगैर इंटर्व्यू के एडमीशन ही नहीं होता. पता नहीं कैसा स्कूल है कि बच्चा पहले से ही सारी पढ़ाई पढ़ ले तब वहां दाखिला पाये.

वहिद्दू दाहिनी पटरी से बाईं पटरी पर पहुंच गया. हाईस्कूल में अंग्रेजी की जो किताब चलती थी, उसमें एक पाठ था, 'रूल्ज आफ दि रोड!' उसमें बताया गया था कि हमेशा अपने बाएं चलना चाहिए. वहिद्दू को वह सबक अभी तक याद है. हाई-स्कूल के बाद तो वह फिर पढ़ ही नहीं सका. अब्बा के एक दोस्त ने उसे इस नौकरी में लगा दिया और वह मां-बाप के बुढ़ापे का मात्र 'आसरा' बनकर रह गया. फिर तो जिम्मेदारियां बढ़ती ही चली गयीं. शादी हुई, लड़के हुए, फिर वे बीमार पड़े और खत्म भी हो गये. बस यही एक बचा है निशानी की तरह.

अचानक वह एक ठेले के करीब खड़ा हो गया. उस पर चंद सस्ते किस्म के केले पड़े हुए थे, जिन्होंने उसके ध्यान को बरबस ही खींच लिया. सोचा कि गुड्डू के लिए लेता चले. कान्वेंट में पढ़ाना है तो कुछ फ्रूट-व्रूट भी चाहिए न आखिर!

वहिद्दू को पहली बार एहसास हुआ कि आज उसके जिस्म पर न तो खाकी लबादा है और न कंधे से कोई थैला-वैला लटक रहा है.

हाजी मुईनुद्दीन से वह बड़ा बेतकल्लुफ हो गया है. दरअसल वे फलों के बहुत बड़े व्योपारी हैं और उनके यहां प्रतिदिन कोई न कोई डाक जरूर आती है. और जब-जब वह कोई चेक या ड्राफ्ट लेकर पहुंचता है, उसकी खूब खातिरदारी होती है. अगर कोई ऐसी-वैसी नोटिस हुई और उसे वापस करना हुआ, तब तो पूछिए ही मत. अभी पिछले साल की ही तो बात है, इनकमटैक्स की एक नोटिस को वापस करने के लिए एवज में हाजी साहब ने तकरीबन दो किलो आम ही उसके थैले में डाल दिये थे. वहिद्दू ने गुड्डू को कान्वेंट में पढ़ाने की राय उन्हीं से ली थी. पहले हाजी साहब हल्के से मुस्कराए थे और बोले थे, "ठीक है, कोशिश करो, पर तैयारी जरा जमकर कराना फिर वहां तौर-तरीका भी तो देखा जाता है."

और उन्होंने कुछ गुर भी सिखाये थे उसे तैयारी के. बस वहिद्दू खिल उठा था. और अगले दिन से ही तैयारी में जुट गया था....

यकबयक वहिद्दू का दाहिना पांव फिसला और वह गिरते-गिरते बचा. किसी ने सड़क पर ही केले का छिलका फेंक दिया था.

दरअसल यहीं से वह मुहल्ला आरंभ होता है जिसमें एक छोटा-सा मकान किराये पर लेकर वहिद्दू रहा करता है. जाहिर है कि मुहल्ला मुसलमानों का है, क्योंकि वहिद्दू भी मुसलमान है. और वह अगर चाहे तो भी उसे किसी दूसरे मुहल्ले में मकान नहीं मिल सकता इस शहर में. यही नहीं; चूंकि वह मुसलमान है इसलिए उसकी ड्यूटी भी मुसलमानों के मुहल्ले में लगायी गयी है.

वहिद्दू ने दूर ही से देखा कि आज फिर कुछ बच्चे उसके मकान के ठीक सामने नेकर खोल कर बैठे हुए हैं और गली में ढेर सारा पानी बिखरा हुआ है. वह भीतर ही भीतर तिलमिला उठा. इनसे किस तरह निपटेगा वह? अभी उस दिन उसने एक टट्टी करते हुए लड़के को उठा दिया था तो उसकी दादी हाथ नचाती हुई सामने आ गयी थी. "बाप की नाली है न, इसीलिए ये हगना-मुतना बंद कर देंगे लोगों का. दिन भर दूसरे लड़के हगते हैं तो नहीं मना किया जाता, हमारे ही घर के लड़कों से इन्हें न जाने कौन-सी दुश्मनी है. ऐसे ही सफाई-पसंद बने हो तो काहे नहीं कुर्सी लगाकर ड्यूटी दिया करते दिन भर! नहीं हटेगा वह, हगेगा और रोज हगेगा यहां पर. बैठ रे बैठ तै...."

"गुड्वा इहां आव तो! ए गुड्वा!"

वहिद्दू जैसे ही अपने दरवाजे पर पहुंचता है, भीतर से बीबी का यह वाक्य सुनायी पड़ता है और वह बुरी तरह भन्ना उठता है. हरामजादी को कितनी बार समझाया कि बच्चा अब कान्वेंट में जाने वाला है, उससे ठीक से बोला करे, पर इस हरामखोर को कुछ समझ में ही नहीं आता. वह आंगन में पहुंचते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही फट पड़ता है.

"आखिर तुम आ गयी न अपनी असलियत पर! मैंने क्या समझाया था उस रोज, कि गुड्डू से अब कायदे से बात किया करो. यह गुड्वा-फुड्वा क्या लगाये रहती हो हमेशा? भूल गयी हो तो आज फिर से सुन लो, जब कभी बुलाना हो तो इस तरह कहना, 'गुड्डू बाबू यहां आइए!' समझी?"

"गुड्डू बाबू!"

उसने थैले से केले निकालकर पलंग पर रखते हुए बेटे को पुकारा तो एक चिलबिली-सी आवाज उभरी, "का?" और एक नंग-धड़ंग लड़का वहां उपस्थित हो गया जिसकी नाक के छिद्रों में काली-काली नकटियां भरी हुई थीं और बुशर्ट के दामन पर पीली-पीली दाल गिरी हुई थी. वह फिर खिझला उठा. लेकिन तुरंत ही उसने खुद को नार्मल बना लिया.

"देखिए बेटे, 'का' नहीं कहा जाता. जब कोई पुकारे तो बोला जाता है, 'जी.' अब गंदा नहीं रहा जाता. अब आपको कान्वेंट में जाना है न! वहां जाने वाले बच्चे इस तरह नहीं रहते."

"जी पापा जी, हम साफ रहेंगे, है न पापा जी? और हम 'जी' बोलेंगे, है न पापा जी?"

"हां बेटे, आप हमारे अच्छे गुड्डू हैं."

"जो बच्चे गंदे रहते हैं पापा जी, वे वहां नहीं जा सकते न पापा जी?"

"हां बेटे, उनका वहां एडमीशन नहीं होता."

"हमारा एनमीशन हो जाएगा जी पापा जी?"

"हां बेटे!"

तब तक गुड्डू की मम्मी भी चाय लेकर कमरे में आ गयी.

"गुड्डू,तुम भी चाय पियोगे?"

"फिर वही गंवरपना! 'तुम' कहा जाता है? इस तरह नहीं बोल सकती कि 'गुड्डू बेटे, आप भी चाय पीजिएगा?'"

बीबी फिर रुआंसी हो गयी.

"अब हमारी बोलिये वैसी है तो का करैं हम? न जाने कइसा कन्वेंट-फनवेंट का इस्कूल है कि अपने आगे नेकर खोल कर घूमने वाले को भी आप-जनाब कहना जरूरी है! लीजिए चाय पीजिए!"

"तुम तो पूरी की पूरी बुद्धू ही रह गयी. अरे पगली, वह तुम्हारे गांव के मदरसे की तरह का स्कूल थोड़े ना है, वहां बड़े-बड़े अफसरों के लड़के पढ़ने जाते हैं. वह तो हमारी हिम्मत की बात है कि हम भी इतना ऊंचा ख्वाब देख रहे हैं!"

"हां तो मरिए भूखों, तब पता चलेगा न!"

"पता क्या चलेगा? थोड़ी-बहुत तकलीफ होगी तो बाद में चल कर क्या आराम नहीं मिलेगा? तुम्हारा बेटा जब जज-कलक्टर बनेगा तब तुम्हारा माथा क्या नहीं ऊंचा होगा?"

"करिए भइया खूब ऊंचा माथा, पढ़ाइए खूब अंग्रेजी-फारसी, हमसे का मतलब है?"

"हां तो गुड्डू बेटे, आज सुनाइए तो अपना सबक!"

"ए. बी. सी. डी. पापा जी?"

"हां वही सुनाइए!"

"ए से एप्पिल, एप्पिल माने सेब..."

"ऊंहूं, इस तरह कहां बताया था मैंने? किसने सिखाया यह सब?"

"खालिद चाचा ने!"

"नहीं बेटे, इस तरह नहीं पढ़ा जाता. खालिद चाचा तो हिंदी स्कूल में पढ़ते हैं न! आप तो अंग्रेजी स्कूल में जाइएगा! वहां ऐसे नहीं पढ़ा जाता."

"तब पापा जी?"

वहिद्‌दू को फौरन हाजी मुईनुद्दीन के पोतों की शब्दावली याद आ गयी.

"सुनिए, वहां ऐसे पढ़ा जाता है; ए फॉर एपिल, एपिल मीन्स सेब!"

"ए फॉर एपिल, एपिल मीन्स सेब!"

"हां. अच्छा अब दूसरा सुनाइए!"

"गिनती पापा जी?"

"गिनती नहीं बेटे, नंबर! गिनती तो हिंदी में होती है न! अंग्रेजी में उसे नंबर कहते हैं!"

"नंबर पापा जी? वन, टू, थ्री, फोर..."

"अच्छा बताइए यह बुशशर्ट किस रंग का है?"

"नीला."

"ऊंहूं, ब्लू!"

"ब्लू!"

"हां, याद कीजिए 'ब्लू'!"

"ब्लू. ब्लू. ब्लू..."

"हां, और यह चादर किस रंग की है?"

गुड्डू चुप!

भूख

■ श्रीनाथ

लेडी डॉक्टर मिसेज गुप्ता मरीजों से घिरी चिंता में पड़ी थीं. ग्यारह बजे तक, यानी क्लीनिक नंबर दो के विजिटिंग आवर्स शुरू होने के पहले वह इतने मरीज कैसे निपटा सकेंगी.

उन्होंने अभी एक नियमित, प्रोटीन-पल्लवित और धनी महिला का ब्लड-प्रेशर लेना शुरू ही किया था कि कंधे पर गठरी टांगे, एक हाथ से लाठी और दूसरे से इनामेल की बदरंग रकाबी थामे एक बूढ़ा भिखारी दरवाजे के बीच प्रकट हुआ.

"डॉक्टर साहब!" भिखारी ने आर्त स्वर में ध्यान खींचा.

अधीर और पीड़ाकुल भिखारी मुंह के पास हाथ ले जाकर गिड़गिड़ाया, "डॉक्टर साहब, दांत में बड़ा दर्द है. कोई दवा मिल जाये तो बड़ी मेहरबानी..."

दस पैसे का सिक्का लेकर बढ़ती हुई नौकरानी को इशारे से रोककर मिसेज गुप्ता ने सिस्टर को आदेश दिया, "इसे एक एनाल्जीन देना."

चमकीली पन्नी में फंसी टिकिया को उलटते-पलटते हुए भिखारी ने पूछा, "डॉक्टर साहब, इसे कैसे खायें?"

मिसेज गुप्ता की तीखी निगाह का मतलब भांपकर

Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नर्स ने कहा, "इसे गरम पानी के साथ खा लेना. अब जाओ बाबा, काम करने दो डाक साब को."

"जाओ बाबा!" मिसेज गुप्ता ने चमककर चिढ़े स्वर में दुहराया और नर्स को घूरकर फटकारा, "कह तो ऐसे दिया जैसे दवा हराम में आती है."

सिस्टर का मुंह उतर गया. दुआओं के साथ विदा होते भिखारी का रास्ता रोकते हुए उसने कहा, "ए बाबा, पचास पैसे निकालो." भिखारी ने रकाबी में कोढ़-गला कांपता पंजा डाला, जैसे-तैसे पचास पैसे बीने और उन्हें सिस्टर की ओर बढ़ा दिया.

अभी भिखारी की लाठी की ठक-ठक विलीन भी नहीं हुई थी कि बाहर सड़क पर जोरों की तकरार सुनाई दी. मिसेज गुप्ता ने आवाजों पर कान टिकाकर स्टेथोस्कोप झुलाते-झुलाते भीतर आवाज दी, "रानी, शायद डॉक्टर साहब आ गये. देख तो जरा, कोई उनसे तो नहीं...?"

रानी ने चबूतरे पर खड़े होकर देखा—क्लीनिक से जरा-सा दूर एक कद्दावर रिक्शेवाला डॉक्टर साहब की राह रोके गरज रहा था, "अंधेर मचा रखा है! पहले दुनिया भर की गलियों में घुमाया, मरीज देखने के नाम पर दो घंटे खड़ा रखा और अब दो रूपल्ली थमा रहे हैं. आंख का पानी मर गया है जैसे. लीजिए, ये भी लेते जाइए," उसने नोट फेंकते हुए कहा, "हम समझेंगे, किसी भिखारी को दान...." □

"ग्रीन!"

"ग्रीन. ग्रीन. ग्रीन..."

"अच्छा अब कविता सुनाइए!"

गुड्डू पलंग से उतरकर नीचे खड़ा हो गया और दोनों हाथ पेट पर बांधकर गुनगुनाने लगा—

"सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा.

हम बुलबुलें हैं इसकी यह गुलिस्तां हमारा..."

यह नज्म वहिद्दू ने उस वक्त याद करायी थी गुड्डू को जब वह नहीं जानता था कि भविष्य में उसका इरादा इतनी ऊंचाई तक पहुंच जाएगा. और गुड्डू ने पूरी नज्म तोते की तरह रट डाली थी. यही नहीं, उसे यह भी याद हो गया था कि यह इक्बाल नामक किसी आदमी के जरिए लिखी गयी है.

लेकिन वहिद्दू के लिए यह नज्म अब बेमानी हो गयी थी. गुड्डू को उसने रोक दिया!

"यह नहीं बेटे, आपको अब दूसरी कविता याद करनी होगी और उसे कविता नहीं, पोयम कहना होगा!"

"पोयम पापा जी?"

"हां बेटे, याद करो, 'ट्विंकिल ट्विंकिल लिटिल स्टार..."

"टिंकल टिंकल लिली लिली लिली..."

"हो हो हो... इसमें खूब मेहनत करनी होगी!"

"जी पापा जी, केला खा लें पापा जी?"

अरे! वहिद्दू तो भूल ही गया था कि गुड्डू के लिए उसने केले भी खरीदे हैं और कब से वे पलंग पर रखे मुरझाये जा रहे हैं.

गुड्डू ने एक केला उठाया और दौड़ता हुआ आंगन में भाग गया. वहिद्दू पलंग पर पसरकर ऊपर तनी हुई काली-बदसूरत छत को घूरने लगा.

वहिद्दू की छुट्टियां प्रायः लैप्स हो जाती हैं. उसे कोई ऐसी जरूरत ही नहीं पड़ती कि वह छुट्टी ले. दूसरे लोगों की तरह न उसे कभी गांव जाना होता और न ही कहीं घूमने-टहलने का ही कोई प्रोग्राम बनाता वह.

वह उस रोज भी इसी चिंता से ग्रस्त था. उन दिनों तो उसका सहयोगी भी पोस्ट-आफिस नहीं आ रहा था. उसी के जिम्मे दोनों काम थे. चिट्ठियां भी बांटना और रजिस्ट्री आदि भी. लेकिन गुड्डू के इंटर्व्यू की वजह से उसे छुट्टी लेनी ही पड़ी सो भी गलत ढंग से; मेडिकल! वरना शायद मिलती ही नहीं! उसे अफसोस हो रहा था कि आज की डाक कैसे बंटेगी? कभी-कभी जब दोनों ही पोस्ट मैन छुट्टी पर होते हैं तो उनकी जगह एक पागलनुमा पोस्ट मैन लगाया जाता है. लेकिन होता प्रायः ऐसा ही है कि वह सारी डाक अपने थैले में ही रखे रह जाता है.

लेकिन उस रोज तो वहिद्दू को छुट्टी लेनी ही थी. ग्यारह बजे से गुड्डू का इंटर्व्यू था. पता नहीं कब तक चले?

उस दिन उसने अपने हाथों से गुड्डू को खूब मल-मलकर नहलाया और बदन पौंछकर पलंग पर बैठा दिया. एक बार वह लखनऊ गया था तो वहां से स्लैक्स का एक सूट ले आया था जो धुल जाने के बाद हालांकि फैल-फैलकर काफी चौड़ा हो गया था, पर उससे अच्छा दूसरा कोई कपड़ा था ही नहीं.

"ये नहीं हुआ कि एक जोड़ी हवाई चप्पल ही लेते आते!"

तब से बीवी भुन्न से बोल उठी और वह भीतर ही भीतर कसमसाकर रह गया. लेकिन खुद को सांत्वना देने की गरज से बोला, "क्या पता कि भीतर जूते उतार कर ही जाना हो? चल जाएगा सब. फिर वह काबिलियत देखी जायगी न कि पहले ड्रेस ही देखा जायगा. अब इकट्ठे ही बढ़िया वाला जूता खरीदा जायगा. आखिर यूनिफॉर्म के साथ तो जूता लगेगा ही न! फिर तो शायद छोटी-सी टाई भी बनवानी पड़े!"

"टाई क्या होती है पापा जी?"

"टाई गले में बांधी जाती है बेटे, अच्छी लगती है!"

"जैसे साहब बांधते हैं?"

वहिद्दू समझ गया कि गुड्डू उसके पोस्टमास्टर साहब को ही 'साहब' कह रहा है, क्योंकि एक बार वह 'डाक टिकट-प्रदर्शनी' में अपने साथ ले गया था गुड्डू को और वहां टहलते हुए पोस्टमास्टर साहब को दिखाकर उसने बताया था कि यही हमारे साहब हैं.

"हां बेटे, वैसे ही!"

"तब तो बड़ा मजा आएगा!"

"अच्छा, वहां नाम पूछा जाएगा तो क्या बताइएगा?"

"अद्बुल कादिर!"

"शाबाश! मगर अद्बुल नहीं, अब्दुल!"

"अब्दुल पापा जी?"

"हां बेटे, और बाप का नाम?"

"अब्दुल वाहिद!"

"शाबाश!"

वहिद्दू ने मारे खुशी के गुड्डू को कंधे पर उठा लिया और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीवी की ओर 'टा! टा!' करने का इशारा करते हुए बाहर आ गया.

उसे अभी हाजी साहब के यहां जाना है. उनके भी एक पोते का इंटर्व्यू है. पहले तो तय था कि उनके साहबजादे ही अपने बेटे को स्कूटर से लेकर जाएंगे, पर स्कूटर अचानक खराब हो गया इसलिए अब हाजी साहब खुद जाने वाले हैं, रिक्शे से! कल मुलाकात हुई तो बोले कि तुम भी चले आना, साथ-साथ चला जाएगा. वहिद्दू तो यही चाहता भी था. असल में अकेले जाने में उसे घबराहट हो रही थी. वह तो फार्म लेने भी नहीं गया था. हाजी साहब से ही गुजारिश करके फार्म मंगवाया था और उन्हीं से भरवा कर उन्हीं के जरिए ही जमा करवा दिया था. इंटर्व्यू की डेट भी उन्होंने ही बतायी थी. उसका बस चलता तो वह गुड्डू को भी उन्हीं के साथ भेज देता, पर वहां का ऐसा नियम है कि इंटर्व्यू के वक्त पैरेंट्स का होना जरूरी है.

"अरे यह क्या?" हाजी साहब उसे देखते ही अचानक घबरा उठे, "बच्चे को वहां नंगे पांव ले चलोगे?" और फिर नौकर को उन्होंने आवाज दी, "अरे करिसवा, पप्पू की चप्पलें जरा ले आना तो!"

और क्षण भर में ही नीले पट्टों वाली नन्हीं-नन्हीं दो हवाई-चप्पलें गुड्डू के सामने बैठी मुस्करा रही थीं. गुड्डू ने जब उन्हें पहना तो वे और मुस्करा उठीं और इस हरकत के कारण उनके होंठ कुछ इस तरह फैले कि गुड्डू के मरियल से पांवों में वे एकदम से ढीली ही लगने लगीं. पर हाजी साहब ने कहा, "चलो सब ठीक है, चलेगा!" और वे धीरे-धीरे रिक्शे पर बैठने लगे. वहिद्दू ने गौर किया कि हाजी साहब की गोद में बैठे पप्पू के कपड़ों से किसी विदेशी सेंट की भीनी-भीनी खुशबू हवा में बिखर रही है और पूरा वातावरण अर्जाब-सा होने लगा है.

कुछ वैसा ही अजीब वातावरण उस स्कूल का भी था, जो किसी पवित्र सेंट (संत) के नाम को अपने साथ धारण किये हुए था और जिसके दरवाजे पर पहुंचकर हाजी साहब का रिक्शा इस तरह रुका था जैसे इस जिंदगी की आखिरी मंजिल वहीं पर खत्म हो गयी हो. गेट पर एक यंत्र चालित किस्म के नरपुंगव ने उन्हें सैल्यूट दागा था और वे दाखिल होकर घने दरख्तों से घिरी एक साफ-सुथरी सड़क पर चलने लगे थे. वहिद्दू को वहां पहली बार एहसास हुआ कि आज उसके जिस्म पर न तो खाकी लबादा है और न ही कंधे से कोई थैला-वैला लटक रहा है. आज उसने घर की धुली हुई सफेद रंग की एक साफ कमीज और बादामी रंग का एक पैंट पहन रखा है. और इतना ध्यान आते ही वह गुड्डू की अंगुली पकड़कर थोडा-सा अकड़ता हुआ चलने लगा.

जिन बच्चों का इंटर्व्यू होने वाला था वे अपने अभिभावकों के साथ इमारत के लंबे-चौड़े बरामदे में टहल रहे थे और अनेकानेक स्त्री-पुरुष दीवारों पर लगे हुए अंग्रेजी के पवित्र उपदेशों को निहायत ध्यान के साथ पढ़ रहे थे. वहिद्दू हाजी साहब के पीछे-पीछे चलता हुआ बरामदे में पहुंच गया और एक कोने में जाकर इस तरह खड़ा हो गया जैसे चिड़ियाघर में कोई नया जानवर आया हो.

"पापा जी दस नया दीजिए, हम बी लेंगे!"

तभी वहिद्दू ने देखा कि एक बच्चे के हाथ में मूंगफली देखकर उसका गुड्डू भी अचानक मचल गया है और उसे बेहद गुस्सा आया. अगर इसने इसी तरह का सलीका दिखाया तब तो हो चुका एडमीशन!

"जाओ लेकर, अब तुम्हारा ही नंबर है!"

वह कुछ बोलने ही जा रहा था कि हाजी साहब ने उसे सचेत किया और जैसे ही एक औरत अपने बच्चे को जिसका इंटर्व्यू शायद खराब हो गया था—घसीटती हुई बाहर आयी, वह गुड्डू को लेकर दाखिल हो गया भीतर!

कमरे में एक अजीब तरह की शांति बिखरी हुई थी. वहां एक कुर्सी पर सफेद परों वाली काली चिड़िया की भांति एक सांवली—सी स्त्री सफेद वस्त्र पहने रजिस्टर खोले बैठी हुई थी और न जाने क्यों अपने पेन को वह गाल पर टिकाए हुए थी. उसके सामने एक छोटी-सी मेज थी जिस पर लकड़ी की एक चिड़िया रखी हुई थी और किनारे पर प्लास्टिक का एक छोटा-सा टेलीफोन भी रखा हुआ था. उस मेज के सामने एक छोटी-सी बच्चोंवाली कुर्सी रखी हुई थी जिस पर गुड्डू को उसने बैठा लिया और वहिद्दू पास ही में रखी एक दूसरी कुर्सी में दुबक गया.

"आपका नाम?"

"अद्बुल कादिर!"

'धत्तेरे की!' वहिद्दू ने मन ही मन गुड्डू को एक भारी-सी गाली दी और कुर्सी के भीतर और बुरी तरह धंस गया

इंटर्व्यू लेने वाली स्त्री मुस्करायी.

"घर में कुछ पढ़ा है आपने?"

"जी! सुनाएं? ए. बी. सी. डी. ई..."

"अच्छा, और?"

"गिनती सुनाएं? नहीं, नंबर सुनाएं? वन. टू. थ्री. फोर..."

"कोई कविता याद है?"

सुनाएं? सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा..."

ऊंहूं! सब किया-कराया खेल बिगड़ जायगा लगता है. वहिद्दू भीतर ही भीतर कुनमुनाया

इंटर्व्यू लेने वाली स्त्री कविता सुनती रही.

"यह कविता इकबाल की लिखी हुई है!"

"अच्छा, आपको तो कवि का नाम भी याद है!"

"हमें पोयम भी याद है. सुनाएं? टिंकल टिंकल लिली लिली लिली..."

स्त्री मुस्करा उठी!

"आपके लिए खिलौने कौन लाता है?" इस पर गुड्डू जैसे उदास हो गया.

"हमारे लिए खिलौना कोई नहीं लाता!"

वहिद्दू के मन में आया कि उठकर एक झापड़ रसीद कर दे, लेकिन अचानक ही वह ठंडा पड़ गया. गुड्डू ठीक ही तो कह रहा है. खिलौना उसके लिये कब लाया गया है भला? वह तो चम्मचों से खेल-खेलकर इतना बड़ा हुआ है...

"खिलौना कोई नहीं लाता आपके लिए !"

"हम यह भी खेलते हैं और यह भी!"

गुड्डू ने चिड़िया और टेलीफोन को छूकर न जाने किस मूड में यह बात कही कि वहिद्दू खिल उठा!

Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

''हां हां यही सब, कौन लाता है आपके लिये?''

''पापा लाते हैं.''

'वाह! बेटे ने लाज आखिर रख ही ली,' वहिद्दू ने मन ही मन कहा और उसे प्यार के साथ देखने लगा.

''अच्छा आप नाचना जानते हैं?''

''हां जानते हैं.''

''नाचिए!''

''नहीं नाचेंगे!''

''क्यों?''

''जब एनमीशन हो जाएगा तब नाचेंगे!''

''अगर आप नहीं नाचेंगे तो एडमीशन नहीं होगा!''

''नहीं होगा तो आपको हम गोली मार देंगे!''

गुड्डू ने छूटते ही जवाब दिया और अपने हाथों से उसने इस तरह पिस्तौल की आकृति बनायी कि स्त्री खिलखिलाकर हंस पड़ी. उसने रजिस्टर में कुछ दर्ज किया और फिर वहिद्दू की ओर मुखातिब हुई!

''आप बच्चे के क्या हैं?'' यह सवाल अंग्रेजी में पूछा गया.

''फादर!''

''आप क्या करते हैं?'' यह सवाल भी अंग्रेजी में था.

''पोस्ट मैन हूं!''

''थैंक यू!''

और वे बाहर चले आये. चलते-चलते गुड्डू ने 'गुडबाई' भी कहा जिसका जवाब स्त्री ने सिर्फ मुस्कान से ही दिया और हाजी साहब के पोते का इंटर्व्यू लेने में व्यस्त हो गयी.

लेकिन पप्पू जब तक भीतर रहा सिर्फ रोता रहा. उस स्त्री ने उसे फुसलाने की बहुत कोशिश की, पर सब व्यर्थ रहा. और हाजी साहब बगैर 'थैंक यू' सुने ही बाहर आ गये. उनका चेहरा तना हुआ था.

वहिद्दू बेहद खुश था. बाहर जितने लोग खड़े थे सब कह रहे थे कि इस बच्चे का इंटर्व्यू बढ़िया हुआ है. और उसे लग रहा था कि जिंदगी में उसका पहला सपना सच हो रहा है. मेहनत से क्या नहीं हो सकता? यहां तक कि एक चिट्ठीरसा का लड़का—निहायत गंदे मुहल्ले में, निहायत बोसीदा हालात में पला हुआ एक मामूली-सा छोकरा भी कान्वेंट में पढ़ सकता है. पढ़-लिखकर बहुत बड़ा अफसर बन सकता है.

और एक पेड़ के नीचे खड़े ठेले से उसने आइसक्रीम के दो कप खरीद लिये, एक अपने गुड्डू को थमाया और दूसरा पप्पू को. इस खुशी के मौके पर चार रुपये की कुर्बानी भला कौन-सी बड़ी बात है? ऐसे मौके पर तो दो-चार रोज की छुट्टी लेकर वह गांव भी जा सकता है, वहां के लोगों को यह सुसमाचार सुनाने...

लेकिन उस रोज़ वहिद्दू ने कोई छुट्टी नहीं ली. उसने गुड्डू को अपने साथ लिया और घर से निकलकर गली में आ गया.

''हम कहां चल रहे हैं पापा जी?''

''हम स्कूल चल रहे हैं बेटे!''

''हमारा एनमीशन हो गया पापा जी?''

''देखो उधर पाखाना है, पांव बचा के!''

अपनी धुन में मस्त गुड्डू को वहिद्दू ने चेतावनी दी और उसकी आंखों के सामने वह पूरा का पूरा क्षण किसी जलते हुए लट्टू की तरह नाच गया, जब उस 'एल' आकृति वाली इमारत में टंगे एक रेजल्ट-बोर्ड के सामने वह खड़ा था और अपनी आंखों को बुरी तरह फाड़-फाड़कर देखने के बाद भी 'अब्दुल कादिर' सन आफ 'अब्दुल वाहिद' जैसा कोई नाम उसे नहीं दिखाई पड़ा था. हां, हाजी मुईनुद्दीन के पोते का नाम जरूर बार-बार उसकी पुतलियों में घुसा जा रहा था और उसे लग रहा था कि इस नाम ने जबरदस्ती गुड्डू के नाम को निरस्त कर दिया है और स्वयं उसकी जगह प्रतिष्ठित हो गया है.

लेकिन उसके पास इसका कोई प्रमाण नहीं था. पोस्ट ऑफिस में न जाने कितने पत्र ऐसे भी आते हैं जिन पर न तो माकूल टिकट होता और न ही उन्हें दूना पैसा देकर कोई छुड़ाता ही, अतः वे नष्ट कर दिये जाते हैं. उनकी बिसात ही भला क्या है? ज्यादा से ज्यादा यही न होता कि अगर उन पर भेजने वाले का पता भी लिखा है तो उनके पास उन्हें वापस भेज दिया जाता है...

वहिद्दू वापस आ गया था.

''हम अब खूब मन लगा कर पढ़ेंगे है न पापा जी?''

''हां बेटे!''

वहिद्दू उस बच्चे को गौर से देखता है जो अपनी कल्पना में उसी जगह चल रहा है जहां एक दिन वह इंटर्व्यू देने गया था. लेकिन शर्त के अनुसार न उसके शरीर पर यूनिफार्म है न पांवों में जूते! उसने एक गंदा-सा नेकर पहन रखा है और ऊपर एक रंग उड़ा लाल-सा बुशर्ट झूल रहा है. गर्मी के कारण उसके सिर पर जगह-जगह बड़ी-बड़ी फुंसियां निकल आयी हैं जिन के कारण जगह-जगह से बालों को कतर दिया गया है और पूरा का पूरा सिर किसी ऊबड़-खाबड़ खेत की तरह दिखाई पड़ रहा है. उसके कंधे से एक सफेद-सा झोला लटक रहा है जिसमें टीन की एक स्लेट पड़ी हुई है. वहिद्दू अलबत्ता अपने पूरे यूनिफार्म में है, क्योंकि उसे उधर से ही पोस्ट आफिस निकल जाना है.

लेकिन गुड्डू को नहीं लगता कि उसके पापा उसे नगरमहापालिका की किसी स्याहीगिरी टाटपट्टी पर बैठाकर चुपके से खिसक जाएंगे और वह माकूल टिकट के अभाव में नष्ट होते पत्रों के बीच कहीं खो जाएगा! □

■ ए—24/15, कायेला बाजार, वाराणसी-1

ग़ज़ल

■ रंजन अधीर

कितने दावेदार हो गये बस्ती के,
सबके सब सरदार हो गये बस्ती के!
बस्ती वालों ने मुझको इतना चाहा,
हम भी आखिरकार हो गये बस्ती के!
चीखें अपनी और नीतियां सरकारी,
ऐसे सब अखबार हो गये बस्ती के!
मर्यादित तो रहे राम जैसे हम भी,
फिर भी थानेदार हो गये बस्ती के!
खौफ सलीबों का है शायद इसीलिए,
बुजदिल सब फनकार हो गये बस्ती के!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गलियां : जहां इतिहास कैद है

झगड़ा 'पहले मैं' का खूनी मुरलीधर के मंदिर पर

■ बाला दुबे

पूना का धन्ना सेठ सदाशिव रघुनाथ उर्फ दादा गदरे! जब उसके यहां लक्ष्मी की वर्षा हुई तो सोने चांदी से उसका आंगन भर गया. उसके यहां सोने की अशर्फियां गिनी नहीं जाती थीं, बोरियों में भर कर तोली जाती थीं. और तो और महाराष्ट्र-मंडल के सूर्य माधवराव पेशवा तक ने दादा गदरे के घर की कुंडी खटखटायी थी. वे तब निजाम हैदराबाद से लोहा बजाने जा रहे थे और फौज को संवारने के लिए मुद्रा चाहिये थी. माधवराव की निगाह फिर दादा गदरे के ऊपर ही टिकी थी. अब भला पेशवा की बात की लाज नहीं रखते दादा गदरे ? उन्होंने तब अठारह बैलगाड़ियों में अशर्फियां भरवाकर अपने पेशवा को भिजवायी थीं. और पेशवा ने अपनी ही प्रजा से लिये इस ऋण को बाइज्जत चुकाया भी. जब महाराष्ट्र पर छाये विपदा के बादल टल गये तब पेशवा ने अठारह बैलगाड़ियों में अशर्फियां भरकर सूद लौटाया और तीन बैलगाड़ियां भरकर ब्याज भी भिजवाया था. फिर तो जब भी महाराष्ट्र के प्रमुख सरदारों को चांदी के छत्र की जरूरत पड़ती तब वे दादा गदरे की देहरी पर आकर आवाज लगाते. और दादा गदरे ने कभी किसी को 'ना' नहीं कहा.

दादा गदरे का डंका बजता था पूना में. और फिर धन-कुबेर होने के अलावा उन्होंने राजनीति में भी तो अपने हाथ सान रखे थे. धन और वैभव का सदा चोली-दामन का साथ रहा है. तिसपर दादा गदरे नाना फड़नवीस का रिश्तेदार भी तो लगता था. नाना फड़नवीस तो उन दिनों बिखरते हुए महाराष्ट्र का 'चांडाल-चाणक्य' था... काट-छांट का माना हुआ कारीगर, गिद्ध जैसी नजर वाला. राजनीति के रेगिस्तान का वह ऐसा [illegible] ऊंट था जिसकी करवट का अंदाजा न मराठे लगा सके और न ही अंग्रेज. उसने जब बाजीराव को अपनी कठपुतली बनाना चाहा तो बाजीराव ने अपना दामन सिंधिया के आगे पसारा. माना कि कलम की मार बड़ी भीतरी होती है पर तलवार की मार तुरंत तोड़-फैसला करने वाली होती है. नाना के हाथ की कलम तब कांप गयी थी जब हजारों चमचमाती हुई तलवारें निकाले सिंधिया के युद्ध-बावरे पूना की ओर लपके थे. नाना फड़नवीस ने तब ठंडे लोहे से स्थिति संभाली थी. और इसी पतले दुबले कुशाग्र बुद्धि वाले फड़नवीस का साला ही तो था दादा गदरे.

जब एक बार दादा गदरे ने पेशवा को अपने यहां भोज पर बुलवाया था तब उसने सोने की थालियों में पांच-पांच सोने की कटोरियां रखवायी थीं. पानी पीने के पात्र भी ठोस सोने के थे. पेशवा ने फिर अपनी बादामी आंखों से अपने नगर के इस धन्ना सेठ को बड़े फख्र से निहारा था. उसे सांत्वना भी हुई कि उसके नगर में कामधेनु भी रहती है. पर पेशवा यह अंदाज नहीं लगा पाया कि यह कामधेनु केवल नाना फड़नवीस के इशारों पर ही मंगल करती है और किसी के कहने पर नहीं, स्वयं पेशवा के कहने पर भी नहीं.

दादा गदरे भी बड़े कर्रो फर से शनिवार पेठ में रहता था. आलीशान हवेली, पहरेदार-चौकीदार, चहल-पहल, सदामंगल, सदाबहार. फिर गदरे ने अपने लिये एक बाग बनवाया जिसमें हरियाली और फूलों का साम्राज्य फैला हुआ था. और तभी गदरे को अपने इष्टदेव का ध्यान भी आया. वह राधा-कृष्ण का भक्त था. और जब उसने राधाकृष्ण को अपने यहां पधारने का निश्चय कर लिया तब उसके आदमी भरी थैलियां लेकर जयपुर जा पहुंचे थे. जयपुर में उन दिनों भगतराम संगतराश के हाथों में यश-रेखा वंदिनी बनी हुई थी शायद. सन् 1796 में भगतराम ने पूना के मंदिर के लिए मुरलीधर तराशने शुरू किये थे. उसने दो प्रकार के पत्थरों का इतना अद्भुत संगम किया था कि देखने वाले दांतों तले अंगुली दबा गये. एक फुट ग्यारह इंज के भगवान श्रीकृष्ण और एक फुट साढ़े आठ इंच की राधिका की जोड़ी उन दिनों दस हजार रुपयों में बनी थी. जब मुरलीधर की मूर्ति पूना आयी तो तहलका मच गया. कुछ और रईसों ने इसी की टक्कर की मूर्ति बनवाने का निश्चय भी किया था, पर दादा गदरे के मुरलीधर निराले ही थे. 6 मई, 1797 को मूर्ति को मंदिर में पधराना था. दादा गदरे ने अपने बाग में ही मंदिर बनवाया था. और जब दादा गदरे को जमा होने वाली भीड़ का अंदाजा बतलाया गया तो उसने बजाय दिन के रात के एक बजे जलूस निकलवाने का निश्चय किया था. मुरलीधर के मंदिर के बाहर दादा गदरे ने दो बैंड बाजे भी बुलवाये थे. एक तो ईस्ट इंडिया कंपनी का विलायती बैंड था और दूसरा मराठी सेना का बैंड था जिन्हें अरब सिपाही बजाते थे. दोनों बैंड मंदिर के बाहर खड़े हिंडोले वाले जलूस का इंतजार कर रहे थे. और जब शंख घड़ियाल और घंटियों की आवाज सुनाई देने लगी तब बैंड भी तैयार होने लगे. जैसे ही अरबी बैंड ने बजाने का इशारा देना चाहा वैसे ही ईस्ट इंडिया कंपनी के बैंड मास्टर ने उसका हाथ पकड़ लिया और कहा, 'पहले कंपनी बहादुर का बैंड धुन बजायेगा, बाद में तुम बजाओगे.'

अरबी बैंड मास्टर ने झटका देकर अपना हाथ छुड़ाया और जवाब दिया, 'हवा खा, फिरंगी. पहले हमारा बैंड अगवानी की धुन बजायेगा, तुम्हारा नहीं.'

और 'पहले मैं' की यह कशमकश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तूल पकड़ गयी. कुछ देर तू-तड़ाक के बाद हाथा पाई शुरू हो गयी. और मंदिर के सामने दोनों बैंड वालों ने अपने साजों को जमीन पर रखा और अपना अपना लंगोटा कस कर भिड़ गये. मार-पीट ने इतना तूल पकड़ा कि देखते ही देखते हथियार निकल आये. जब ईस्ट इंडिया कंपनी का मिस्टर बॉयड कंपनी की टुकड़ी लेकर आ धमका तो अरबी कंपनी कमांडर भी अपनी हथियारों से लैस कंपनी लेकर आ कूदा. आते जुलूस में भगदड़ मच गयी और मंदिर के सामने महाभारत शुरू हो गया जिसमें कई आदमी मारे गये. झगड़े का यह खूनी रंग देखकर ही दादा गदरे ने नाना फड़नवीस के पास गुहार लगायी. फलस्वरूप नाना फड़नवीस ने मराठी सेना को तत्काल ही घटनास्थल पर भेजा. तब तक काफी अंग्रेज और अरबी मार डाले गये थे. मराठी सेना ने आते ही धावा बोल दिया जिसके कारण दंगा शीघ्र ही काबू में आ गया. मंदिर की चौखट गर्म-गर्म खून से नहा गयी थी. कई लाशें पड़ी थीं. जमीन खून के चकत्तों से कत्थई हो चुकी थी. मुरलीधर का हिंडोला अंदर लाया गया और पूना की सबसे बढ़िया और कीमती राधाकृष्ण की जोड़ी दादा गदरे के मंदिर में पधरा दी गयी. मंदिर का उद्घाटन ही खून से हुआ था. जिन योगिराज श्रीकृष्ण ने कौरवों और पांडवों में महाभारत कराके कुरुक्षेत्र के मैदान को खून से लाल करवा दिया था उन्हें तब किसी ने भी 'खूनी श्रीकृष्ण' नहीं कहा, पर शनिवार पेठ के दादा गदरे के मंदिर में घुसते ही पूना वालों ने उन्हें 'खूनी' की उपाधि दे ही डाली. दादा गदरे के मुरलीधर को लोग 'खूनी मुरलीधर'. कहने लगे, और आज भी कहते हैं.

फिर पंड़ितों ने ही गदरे को डराया था, मुरलीधर अपने साथ खून लेकर आये हैं. खून ही खून सब तरफ होगा. तुम्हारा भाग्य भी खून से भर जायेगा.' और हुआ भी वही. महाराष्ट्र में होलकर और सिंधिया खून की होली खेलने लगे. बाजीराव द्वितीय राजनीति की भव में ऐसा पड़ा कि खून का घूंट पीकर रह जाता. और जब उसने युद्ध के लिए दादा गदरे से धन मांगा तो महाराष्ट्र के मुद्राराक्षस नाना फड़नवीस ने उसे इशारा दे दिया. दादा गदरे ने धन देने से मना कर दिया. बाजीराव द्वितीय ने तब अपना तीसरा नेत्र खोला. सिंधिया की मदद से उसने नाना फड़नवीस और दादा गदरे को पकड़कर बंद कर दिया. ऐशो-इशरत में रहने वाले दादा गदरे को जेल की कोठरी कुंभीपाक से भी बदतर लगी और उसने जादू की पुड़िया खोलना शुरू कर दिया—सोने-चांदी के जादू की पुड़िया. भारी भरकम रिश्वत दे कर दादा गदरे तो बाहर निकल आया, पर जैसे ही बाजीराव को यह पता लगा तो उसने उसे फिर जेल में बंद कर दिया और उसकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली.

सन् 1820 में दादा गदरे को अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कंपनी ने ही छुड़ाया था. और जब गदरे ने बाहर आकर अपने बंधे पंखों को फड़फड़ाया तब उसे उसके मित्रों ने सलाह दी थी, 'बाजीराव के अन्याय की शिकायत अंग्रेजों से करो. महाराष्ट्र अब भुस-भरे शेर के अतिरिक्त कुछ नहीं रहा है.'... और दादा गदरे ने बड़ौदा सरकार के वकील द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी को टेर लगायी, 'बाजीराव ने शत्रुता के कारण मेरी तमाम जायदाद हड़प ली है.'

अंग्रेजों ने दादा गदरे की सारी अचल संम्पत्ति, बाग और खूनी मुरलीधर का मंदिर उसे वापस दिलवाये थे, पर बोरियों में भरी अशर्फियां ना जाने कहां कहां बंट चुकी थीं. और ईस्ट इंडिया कंपनी ने दादा गदरे को मासिक पेंशन भी दी—पांच हजार रुपये. कभी करोड़ों का मालिक अब पांच हजार रुपये महीने लेकर क्या करता. लाख भूखा हो, पर शेर घास नहीं खाता है. दादा गदरे ने भी अंग्रेजों की दी हुई घास में लात मार दी. अपनी सारी सम्पत्ति और खूनी मुरलीधर के अशुभ मंदिर को उसने वेदमूर्ति नारायण भट्ट एवं पांडुरंग भट्ट खरे को सौंप दिया और स्वयं संन्यास लेकर नासिक चला गया. आज भी पूना में शनिवार पेठ में खूनी मुरलीधर मौन मुरली बजाते दिखाई पड़ते हैं. हजारों लोग उनके दर्शन करने जाते हैं. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेक्सोना आपकी त्वचा की देखभाल करता है ...

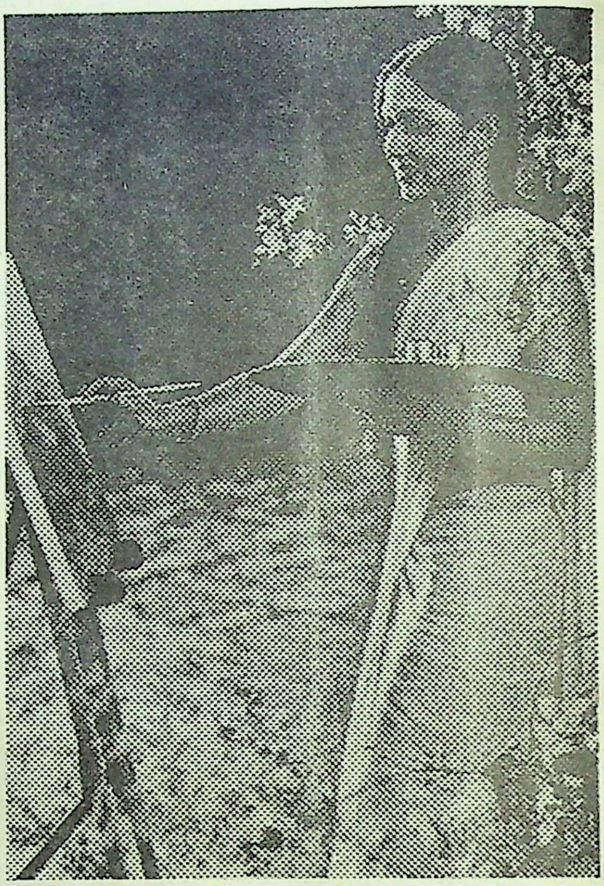

इसे कोमल और उज्ज्वल रखता है

रेक्सोना—इसमें मिले हैं चार कुदरती तेल— हापुशा, दालचीनी, लौंग, टेरिबिंथ. रेक्सोना से नहाइए —यह आपकी त्वचा को कोमल और उज्ज्वल बनाए रखता है. इसकी मनमोहक खुशबू आपको पहरों महकाए. रेक्सोना—आपकी त्वचा की कुदरती देखभाल के लिए.

रेक्सोना आपकी त्वचा के लिए गुणकारी है

हिन्दुस्तान लीवर का एक उत्कृष्ट उत्पादन

LINTAS-RX-79-203 HI

Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मास्टर की कारगुजारियों के बाद अब पढ़िये रहबर साहब की जिंदगी का अगला पड़ाव...

• हंसराज रहबर

मेरे सात जनम

दौलतराम पटवारी पांच फीट कद का पतला-दुबला क्षीण-काय व्यक्ति था. गर्दन की हड्डियां उभरी हुई, चेहरे का रंग सरसों के फूल की तरह पीला, वह तपेदिक का मरीज जान पड़ता था. लेकिन आंखों में चमक और होंठों पर मृदु मुस्कान उसकी जिंदादिली का सबूत थी. हरिमाऊ संगवां में पटवारी बन कर आए उसे अठारह-बीस बरस से अधिक समय बीत चुका था और उसकी हैसियत गांव के स्थाई निवासी जैसी थी. जब कभी उसकी तबदीली के कागज आते थे, लोग बाग अर्जी-पर्चा करके रुकवा देते थे. दौलत राम उनके के लिए एक हाकिम नहीं गांव के दुख-सुख में शरीक एक सज्जन-सुहृदय व्यक्ति था. उसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण शायद यह रहा होगा कि वह रिश्वत नहीं लेता था और अगर लेता भी था, तो बहुत ही कम, जो किसी को अखरती नहीं थी.

चरनू और बैजू उसके दो बेटे बाप ही की तरह पतले-दुबले छछूंदर जैसे थे. पटवार खाना मदरसे के रास्ते में पड़ता था. इसलिए सुबह जाते समय मैं और हंसा, प्रायः उन्हें भी साथ ले लेते थे. यों चरनू और बैजू से मेल-जोल बढ़ा और पटवारी के घर में मेरा आना-जाना शुरू हुआ.

चरनू और बैजू शरीर ही से कमजोर नहीं थे, लिखने-पढ़ने में भी कमजोर-फिसड्डी थे. अगर मैं और हंसा उनके साथ न होते, तो वे धीरे-धीरे कछुवे की चाल से बहुत देर में मदरसे पहुंचते थे और एक-एक पाठ पर हफ्तों अटके रहते थे. 'जल्दी' नाम के शब्द का उनके जीवन में कोई स्थान नहीं था.

हर एक पिता की तरह दौलत राम की यह उत्कट अभिलाषा थी कि उसके बेटे पढ़-लिखकर लायक बनें और ओहदे में उससे आगे बढ़ें. ज्यादा नहीं तो कम से कम कानूनगो अथवा तहसीलदार के पद तक तो जरूर पहुंचें. लेकिन जिस रफ्तार से वे चल रहे थे, उससे तो उनके लिए पटवारी के पद तक भी पहुंच पाना कठिन था. दौलत राम को बेटों की शारीरिक दुर्बलता उतनी नहीं खलती थी, जितनी वह उनकी जड़बुद्धि से परेशान था. उसे जब भी फुर्सत मिलती, बेटों को पास बैठाकर कभी कायदा पढ़ाता कभी इमला लिखाता था. जब वे बार-बार पढ़ाया हुआ सबक भूल जाते, अथवा मामूली-मामूली शब्दों के हिज्जे गलत लिखते तो दौलत राम के क्रोध का पारा अनायास चढ़ जाता था. और वह चांटे मार-मार कर दोनों के मुंह लाल कर डालता था. दुर्बल काया चरनू और बैजू भय से कांप उठते और पेशाब से पायजामें भीग जाते थे.

"छोड़ो-छोड़ो!" पटवारी की पत्नी मेलो हाथ का काम छोड़कर दौड़ी आती. जिस प्रकार संकट के समय मुर्गी अपने चूजों को पंखों तले छिपा लेती है, वह अपने इन चूजों को पीठ पीछे छिपाकर पति के क्रोध से उनकी रक्षा करती थी.

पत्नी के शब्द ठंडे पानी के छींटे सिद्ध होते, जिनसे दौलत राम के क्रोध का पारा चट उतर जाता था. लेकिन लायक बाप को बेटों के नालायक निकल जाने से जो मानसिक क्षोभ और पीड़ा होती है, वह दौलत राम की विकृत आकृति से व्यक्त होते मैं अक्सर देखा करता था.

पटवारी जब देखता कि मार-पीट व्यर्थ है, जड़बुद्धि बेटों पर उसका कुछ असर नहीं होता तो वह उन्हें समझाने-बुझाने का एक दूसरा तरीका अपनाता, "इधर आओ, बेटा!" वह मुझे पास बुलाता और कलम मेरे हाथ में थमा कर कहता, "तुम इन्हें बताओ साफ-साफ कैसे लिखा जाता है."

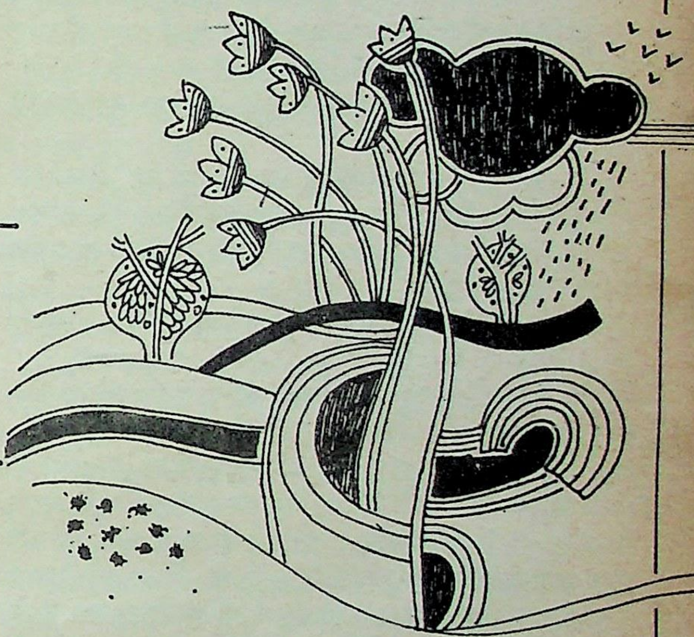

"स्वाद, अलिफ, फे-साफ..." मैं हिज्जे करता और सही लफ्ज तख्ती पर लिख देता.

"देखा, यह लिख सकता है, पर तुम नहीं लिख सकते, बीस मर्तबा समझाओ फिर भी भूल जाते हो. भेजों में भूसा भरा है."

पटवारी बेटों को फटकार कर बताता और मैं अपनी योग्यता पर फूला न समाता.

रांगड मुहल्ला और डोगर मुहल्ला के दरम्यान जो बाजार था, उसे 'गोत्हियां बाजार' कहते थे. बनियों का यह गोत्हियां कबीला बुधिया कबीले से भिन्न था. उनके पंद्रह-बीस घरों में पांच-छः घर संपन्न थे और शेष की स्थिति खास अच्छी नहीं थी. वे भी सामान्य ढंग से जीवन-यापन करते और ज्यों-ज्यों गृहस्थी की गाड़ी ठेलते थे. सब इसी बाजार में रहते थे. उनकी अपनी अलग बिरादरी थी. ब्याह-शादी में बुधिया कबीले से उनका बर्ताव-व्यवहार नहीं था.

गोत्हियां बाजार के दक्खन-पश्चिम की ओर जरा हटकर एक कच्चा सरकारी मकान था. यही मकान दौलत राम का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिहायशी घर और यही पटवारखाना था. उसके पूर्व में कुम्हारों के घर थे, लेकिन उत्तर-दक्खन और पच्छिम में चटियल मैदान था. लगान-वसूली के दिनों में यहां खूब चहल-पहल रहती थी. दौलतराम दो चारपाइयां बिछाकर अपना दफ्तर खुले में लगाता थ. उसके गिर्द किसानों और नंबरदारों का मेला लगा रहता था. लेकिन यह चहल-पहल कुछ ही दिन रहती, उसके बाद यहां रात को तो क्या दिन को भी सन्नाटा रहता. आमतौर पर लड़के वहां 'गुल्ली-डंडा' और 'कबड्डी' इत्यादि खेला करते थे. खेलों में चरनू और बैजू के साथ मैं भी शामिल हो जाता था. चरनू और बैजू चूंकि पटवारी के बेटे थे और उनका घर भी करीब था, इसलिए खेल में धांधली करने या शोर मचाने की किसी की हिम्मत नहीं होती थी. अगर कभी किसी बात पर तकरार हो भी जाती तो मैं जो निर्णय दे देता, वही स्वीकार कर लिया जाता था.

फिर पटवारी के घर में ककड़ी-खरबूजा, गन्ना-भुट्टा—मौसम की हर चीज बहुतायत से आती थी. दूसरे बच्चे की तरह मुझे भी उनके इस्तेमाल की पूरी आजादी थी.

"चाची, मैं यह खरबूजा ले लूं ?" मैंने एक बार मेलो से पूछा.

"हां, ले ले." उसने सुई में धागा पिरोते हुए उत्तर दिया और कहा, तेरा जिस चीज को भी मन चाहे बिना पूछे ले लिया कर. यहां इन चीजों का साड़ सड़ता है. बेकार जाने से तो अच्छा है कि कोई उन्हें खाए."

मेलो के मधुर स्वभाव ने मेरे संकोच को हमेशा के लिए दूर कर दिया.

कोठरी में चूंकि गुंजाइश नहीं थी, इसलिए असामियों के लिए बैठक में चटाई बिछी रहती थी. बैठक में चार दरवाजे थे, जिनमें दो बाहर की तरफ और दो भीतर आंगन में खुलते थे. बैठक के एक छोर पर बैठी मेलो दिन भर मशीन चलाया करती थी. गांव की औरतें कपड़े उसे घर पर आकर दे जाती थीं और सिल जाने पर आप ही आकर ले जाती थी. यों घर की आय में वृद्धि होती थी. वह इस बात का प्रमाण थी कि दौलत राम अपने पेशे के अनुचित उपायों से पैसा नहीं ऐंठता था वरना मेलो को जान खपाने—कड़ी मेहनत करने की क्या जरूरत थी ?

"मेलो!" दौलत राम आवाज देता.

"जी." मेलो तुरंत हाथ का काम छोड़ और हरिनी की तरह चौकड़ी भरकर पति के पास खड़ी होती.

"समझाओ अपने इन बेटों को!" दौलत राम शिकायत करता, "कुम्हारों के साथ खेलते-खेलते कुम्हार बनते जा रहे हैं. मैं कितना ही कलपूं, इनके कान पर जूं तक नहीं रेंगती. एक मिनट भी तो नहीं पढ़ते, मेरे पीठ फेरते ही कायदा-तख्ती फेंक यह जा, वह जा!"

"बेटा, पढ़ने-लिखने में तुम्हारा ही लाभ है, देखते नहीं, तुम्हारे लिए वे कितना परेशान रहते हैं!" मेलो अपने कोमल स्वर में वही बात कहती, जो मैं बीसियों बार कहते सुन चुका था. चरनू और बैजू के झुके हुए सिर और झुक जाते, पर उनके मुख से एक शब्द तक न निकलता.

"जाओ, पहले तख्ती पोतो और कायदा लेकर सबक याद करो". पटवारी के स्वर में पिता की हुंकार सुनाई पड़ती.

नया अनुबंध

■ राजेंद्र परदेसी

"रतनवा, सो गया क्या."

"नहीं काका!"

"मास्टर आये रहन."

"हमहू देखा रहा, का पूछत रहेन."

"कहत रहेन की सुंदरवा को भेजो तो बीस रुपया महीना मिली करी."

रतनवा को सोचते हुए देखकर काका स्वयं ही बोले, "का सोचेत हो."

"सोचित हेन की इतने ही तो ठकुर भी देते हैं."

"लेकिन उनके यहां दिनभर खटे के तो परत है. मास्टर के यहां भेजबो तो दस से चार बजे तक ही जाये कि परि."

"तो ठीक है काका, कल ही जाके सुंदरवा को नाम मास्टर के स्कूल में लिखवा देयो." □

दोनों बेटे चुपचाप आदेश का पालन करते और मेलो फिर सिलाई में व्यस्त हो जाती.

चरनू और बैजू की एक छोटी बहन भी थी. नाम था चिम्मो. उम्र पांचेक साल रही होगी, पर ढाई-तीन से अधिक की दिखाई नहीं पड़ती वह चमगादड़-सी मां के करीब ही कोने में दुबकी रहती. दुलारना-पुचकारना तो दरकिनार मां-बाप और भाई उसकी ओर ध्यान तक नहीं देते थे. जहां पड़ी है, पड़ी है. मुंह पर मक्खियां भिनकर रही हैं. भिनका करें, जरा परवा नहीं, जैसे घर में उसका अस्तित्व ही न हो.

"चिम्मो, यह देख तेरी गुड़िया नंगी है, मां से कह उसके लिए लहंगा सी दे." एक दिन मैंने उसे गोद में लेकर दुलारा-पुचकारा.

"इसे वहीं पड़ी रहने दे. गोद की आदत पड़ गई तो मुझे तंग करना शुरू कर देगी." मेलो ने मशीन की हत्थी घुमाते हुए मुझसे कहा.

पटवारिन का कद दौलत राम की तरह ठिगना पर शरीर सुगठित और सुंदर था. गोरा-चिट्टा रंग, बड़ी-बड़ी स्याह आंखें, सतुवां नाक, वह धीरे-धीरे बहुत कम और मधुर बोलती थी. गाहक औरतों के साथ भी प्रेम से बात करती, सिलाई के बारे में उन्हें कोई शिकायत होती तो धीरज मन से सुनती और उसे दूर कर देती.

हंसे की मां 'उम्दी' का कद भी ठिगना था, पर शरीर दोहरा और आकार में वह मेलो से ड्योढ़ी थीं. हमारा बिरादरी बल्कि गांव में उस जैसा कुशल, उदार और हंसमुख कोई दूसरी स्त्री न थी. हंसे के हमजोली जब उसके साथ खेलने आते तो वह खुश होती, उन्हें प्यार करती बोलती-बतलाती और उनकी छोटी-छोटी बातों में रस लेती.

Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैंने अपने पिता और दूसरे लोगों से उम्दी की प्रशंसा अकसर सुनी थी. लेकिन मेलो पटवारी की पत्नी थी. गांव के सामान्य जीवन से उसका कोई संबंध-संपर्क नहीं था. उसे बस अपने काम से काम था. गौरैया की तरह वह अपने घोंसले ही में संतुष्ट थी. मैं उसे चाची कहता था लेकिन मुझ पर उसका प्रभाव यह था कि मैंने अपने बचपन में उससे बढ़कर सुंदर स्त्री नहीं देखी थी. संक्षिप्त सुगठित शरीर, तीन बच्चों की मां होने के बावजूद वह एक आभा-संपन्न जगमग करती युवा रमणी थी वह दिन भर मशीन चलाती और गांव भर के कपड़े सीती थी.

''चरनू और बैजू कभी अपने ननिहाल नहीं जाते ?''

मैंने एक दिन यों ही पूछा. शायद इसलिए कि मेरा बड़ा भाई निक्का इन दिनों ननिहाल चला गया था और एक-दो मर्तबा मैं भी वहां हो आया था.

''मायके में मेरा कोई नहीं, बेटा. ननिहाल में वे किस के पास जायें ?'' मेलो ने व्यस्त स्वर में उत्तर दिया. कुर्ता, जिसमें बटन टांके जा रहे थे, उसके हाथ से छूट कर चटाई पर गिर गया. वह कुछ क्षण चुप बैठी उदास-उदास नजरों से शून्य में झांकती रही. एक हल्की-सी काली रेखा उसके सुंदर मुखड़े पर खिंच आई.

मैंने ननिहाल की बात फिर कभी नहीं छेड़ी. पर एक दिन सांझ के समय दो चारपाइयां पटवारखाने से बाहर मैदान में बिछी हुई थीं. दौलत राम एक मेहमान पटवारी से बतिया रहा था और इत्तिफाक से मैं भी वहां मौजूद था. तभी मैंने सुना कि मेलो के मां-बाप उसके होश संभालने से पहले ही चल बजे थे. उसका एक चाचा था, जिसने अनाथ भतीजी को पाला पोसा और तेरह-चौदह बरस की उम्र में उसका ब्याह कर दिया.

''चाचा का परिवार दो होगा ?'' मेहमान पटवारी ने पूछा.

''उसकी अपनी दो लड़कियां थीं, जब उनके भी ब्याह हो गए तो वह सब छोड़-छाड़ कर सन्यासी बन गया. हरिद्वार, ऋषिकेश, बनारस और गया. जाने कहां-कहां घूमता रहता था. अब तो यह भी मालूम नहीं कि वह इस दुनिया में है या चला गया'', दौलत राम ने महेमान को बताया और आगे कहा, ''मेलो तो जब से आई है, इस घर से बाहर नहीं गई.''

''क्या आपके परिवार में भी जानी नहीं होता ?''

''मेरा परिवार.'' दौलत राम हुक्के कोनै छोड़कर दीवाने की तरह हंसा और बोला, ''मैं अनाथालय में पला और अपनी ही मेहनत से पढ़-लिखकर पटवारी बन गया. अब मैं जिस गांव में जाता हूं, उसी का अपनी जन्म-भूमि समझ लेता हूं.''

पटवार खाने का माहौल मेरे लिए ज्ञानवर्धक भी था और सुखकर भी. मैं अक्सर यहां चला आता और चरनू और बैजू के साथ खेला करता था.

उस दिन ऐसी घटना घटित हुई, जिसके पूर्वाध में से शामिल नहीं था. पर उसका अनजाने ही मेरे जीवन पर दूरगामी गहरा प्रभाव पड़ा. घटना जो मैंने सुनी और बाद में जिस से भी आ जुड़ा इस प्रकार थी:

फागुन की सुहावनी रात थी और दिन ढल चुका था. दौलत राम पटवारी बुधिया मुहल्ले की चौपाल में चारपाई पर बैठा था. दूसरे लोग उसके इर्द-गिर्द जमा थे और हास-परिहास से मन बहला रहे थे. भगत ने फुम्मन सिंह नंबरदार की गुनगुनी आवाज की नकल उतारी तो हंसी का फव्वारा फूट निकला.

उसी समय हंसा, किशोरी, लच्छी और चिड़ी इत्यादि लड़के भी इत्तिफाक से उधर आ निकले और बड़ो को हंसते देख वे भी हंसने लगे.

''क्यों खांसे निकाल रहे हो ? चलो भागो यहां से'' मेरे चचेरे भाई परमानंद ने उन्हें डांटा.

परमानंद की उम्र इस समय सोलह-सत्रह बरस थी और वह अपनी गिनती बड़ो में करने लगा था. पर लड़कों ने उसकी घुड़की पर कान नहीं धरा. वह वहीं खड़े बदस्तूर हंसते रहे.

''पटवारी साहब, ये लड़के मदर से जाकर पढ़ते-लिखते भी हैं या सिर्फ खेल-कूदकर लौट आते है.'' साधु राम ने थूक की पिचकारी जमीन पर डाली और कहा, ''आप इनका इम्तहान तो लें.''

पटवारी न सिर्फ अपने ही बेटों की पढाई में दिलचस्पी लेता था बल्कि वह चाहता था कि सभी बच्चे पढ़ाई में ध्यान दें और पढ़ लिख कर नाम पाएं. वह कई बार घूमते-फिरते मदरसे में जा पहुंचता और वहां लड़कों से सबक सुनता अथवा इमला लिखवाया करता था. सबक ठीक-ठीक पढ़ने और इमला सही लिखने वाले बच्चों के वह फुट्टा, पेंसिल इत्यादि इनाम में दिया करता था. अब जब चौपाल में उनकी परीक्षा लेने का सुझाव आया दो दौलत राम ने तुरंत स्वीकृति प्रदान कर दी.''

''करो सबको इकट्ठा. अभी मालूम हो जाएगा, कौन कितने पानी में है.''

बस अब क्या था, दो-तीन व्यक्ति इधर-उधर दौड़े और स्कूल जाने वाले जितने भी लड़के हाथ लगे, उन्हें चौपाल में ले आये. उनमें चरनू और बैजू भी थे, पर मैं नहीं था. □

ग़ज़ल

■ फरियाद 'आजर'

जाओ शीशे के बदन ले के किधर जाओगे ?
लोग पत्थर के हैं छू लेंगे बिखर जाओगे!
मुस्कराहट की तमन्ना लिये निकलोगे मगर,
इक सिफर लेके फकत शाम को घर जाओगे!
मैं तो खुश्बू हूं, फजाओं में बिखर जाऊंगा,
मुझ से रूठोगे मेरे फूल तो मर जाओगे!
चांद सोने के पहाड़ों से नहीं उतरेगा,
तुम समुंदर हो बहरहाल उतर जाओगे!
फूल कागज के खिलौनों से बहल जायेंगे,
ख्वाब आंखों में लिये तुम भी तो घर जाओगे!
नूर भी चेहरे का छिन जायेगा, सूरज हूं मैं,
मुझसे कतरा के मेरे चांद किधर जाओगे ?
तुम तो पत्थर हो बहरहाल न तराशीदा,
मैं तो 'आजर' हूं जो छू लूंगा, संवर जाओगे!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरारत

प्रस्तुति: चंद्रकांत बक्षी
रेखांकन: सुमिता

बाथ-टब के अंदर और बाहर

बेरोनेस साल्वादोर द तारागोवा स्पेन के उमराव घराने की एक अत्यंत धनिक महिला का नाम था.

उनकी उम्र 70 वर्ष की थी.

एक दिन स्पेन में समाचार आया कि बेरोनेस के पेरिस के एपार्टमेंट में चेहरे पर बकनी बांधे हुए छह चोर घुस आये थे और बेरोनेस के शरीर से सभी जेवरात उतार ले गये थे.

बाद में समाचार आया कि बेरोनेस अपने बाथटब में स्नान कर रही थीं तब यह चोरी हुई. चोरी हुए जेवरात की कीमत थी नौ लाख पाउंड.

पुलिस की रिपोर्ट पढ़कर स्पेनिश धनपति ने कहा. बेरोनेस बाथ-टब में स्नान कर रही थीं इसीलिए.. वर्ना अगर घंटे भर बाद चोरी हुई होती तो जेवरात की क्या कीमत होती?

'जोक' रशन स्टाइल

मास्को की राष्ट्रीय चित्र गैलरी में दो चित्र पास-पास झूल रहे थे. एक विदेशी यात्री ये चित्र देख रहा था.

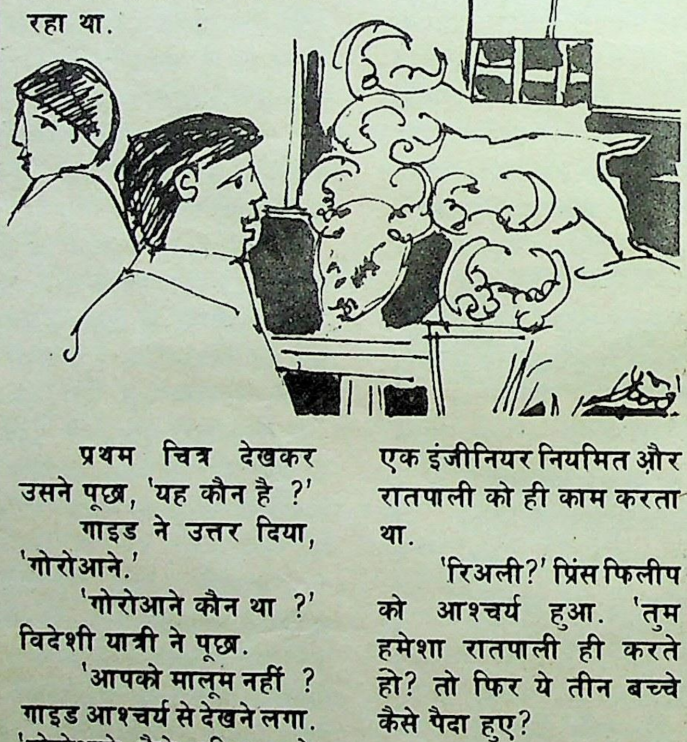

प्रथम चित्र देखकर उसने पूछा, 'यह कौन है ?'

गाइड ने उत्तर दिया, 'गोरोआने.'

'गोरोआने कौन था ?' विदेशी यात्री ने पूछा.

'आपको मालूम नहीं ? गाइड आश्चर्य से देखने लगा. 'गोरोआने जैसे प्रतिभा को आप नहीं जानते ?... उसने इंजिन खोजा. रेडियो खोजा. एरोप्लेन खोजा.'

यात्री ने पूछा, 'और यह दूसरा कौन है?'

'यह है मेन्डरचुकोव्सकी.' उसने क्या किया?

गाइड ने उत्तर दिया, 'उसने गोरोआने को खोजा.'

वीक-एंड का सदुपयोग

इंग्लैंड के प्रिंस फिलिप उत्तर के स्कॉटलैंड की एक फैक्टरी देखने गये. फैक्टरी देख लेने के बाद वे कुछ परिवारों से मिल रहे थे. पांच मिनट बातें करने के बाद उन्हें पता चला कि अल्बर्ट नामक एक इंजीनियर नियमित और रातपाली को ही काम करता था.

'रिअली?' प्रिंस फिलिप को आश्चर्य हुआ. 'तुम हमेशा रातपाली ही करते हो? तो फिर ये तीन बच्चे कैसे पैदा हुए?

अल्बर्ट अपनी खूबसूरत पत्नी के साथ खड़ा था.. उसने शांति से प्रिंस फिलिप से कहा, "मुझे जो वीक एण्ड मिलता है न. उसी का पूरा उपयोग कर लेता हूं."

स्कोटिश डेली एक्सप्रेस पत्र ने यह किस्सा यहां

तक छपा है. प्रिंस फिलिप ने आगे क्या प्रश्न पूछा यह पत्र में लिखा नहीं है.

पर-स्त्री.. माता समान

स्कॉटलैंड के एक मेले में 60,000 पाउंड खर्च करके खरीदे गये एक अत्यंत लंगडे भेड़ के खरीदार ने मेले के शेरीफ को एक सप्ताह के बाद शिकायत की कि प्रजोत्पत्ति के लिए इतनी रिकार्ड कीमत देकर खरीदे गये भेड़ को जब मेरे फार्म की मादाओं के पास छोड़ा जाता है तब वह सिर्फ मुंह फाड़-फाड़कर जम्हाईयां लेता रहता है.

मुझे ठगा गया है, उसने कहा. □

Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थका हुआ माहौल

•मनमोहन कुमार

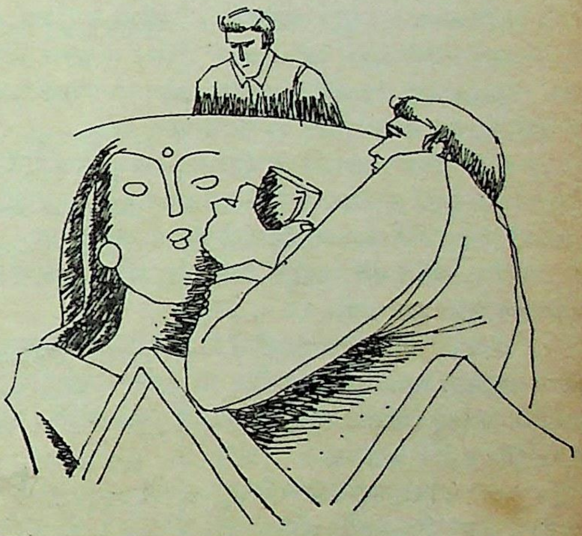

कुछ ऐसे क्षण होते हैं जब हम कुछ निरर्थक-सी चीजों के पीछे दौड़ने लगते हैं और वे ही चीजें हमारे पूरे व्यवहार को नियंत्रित करने लगती हैं. प्रस्तुत है ऐसे ही कुछ क्षणों से मोहभंग की एक कहानी

मैं जब राजेंद्र के साथ रेस्तरां में घुसा तो एक सरदार जी ने दरवाजे पर ही हमें रोक लिया, "सर, हम आधे घंटे से वेट कर रहे हैं, वे आये नहीं." राजेंद्र उल्टे पैरों लौट लिया, "अच्छा, मैं कौल के घर देखता हूं, वह वहीं होगा." खैर, मैं जब तक किसी टेबल पर पहुंचकर टिकता, सुरेश आ गया था और हम दोनों बैठ गये थे. साथ की मेज पर न वे चारों सरदार बैठे थे जो पहले ही 'उसका' इंतजार कर रहे थे.

सुरेश और मैं बहुत देर तक चुप बैठे नहीं रह सकते थे. "अगर बाई द वे राजेंद्र न लौटा तो हम क्या करेंगे?" मैं चुप रहा.

"अगर हम चाय पिये बिना उठ गये तो अगली बार रेस्तरां का मालिक जरूर मुझे आइंदा का मतलब समझा देगा."

मैं अब भी नहीं समझ पा रहा था कि सुरेश इतना क्यों घबरा रहा है. सिर्फ यही तो एक बात है कि जिस पब्लिक स्कूल में यह पिछले चार माह तक पढ़ा चुका है, वहां के टीचर्स यदाकदा इस रेस्तरां में बैठते हैं.

"क्यों, क्या खयाल है!"

"ठीक है." मैंने कहा. दरअसल मैं कुछ बोरियत सी महसूस कर रहा था और उसे दूर करने का यही तरीका था कि सामने बैठे आदमी को खींचा जाये. अब क्योंकि कोई तीसरा हमारे साथ नहीं था इसलिए मुझे सिगरेट की जरूरत महसूस हो रही थी. "मैं एक कहानी लिखने की सोच रहा हूं." सुरेश ने बात आगे घसीटी, "अपनी अब तक की सबसे अच्छी प्रतीकात्मक कहानी, उसके एक लड़का और लड़की रेस्तरां में बैठे हैं और कुछ नहीं कर रहे हैं, सिर्फ बातें कर रहे हैं बस."

'साला बोर कर रहा है, ख़ाक नहीं लिखी इसने प्रतीकात्मक-वरतीकात्मक कहानी. कल सुबह वैसे ही कालेज में लड़कियों के पीछे दुम हिलाता हुआ घूम रहा होगा.' मैंने सोचा. फिर कहा, "ऐसा हो ही नहीं सकता कि वे कुछ न कर रहे हों, वे जरूर कुछ कर रहे होंगे."

"हां, ऐसे तो वे कुछ न कुछ कर ही रहे हैं, यानि कुछ भी कर सकते हैं. जैसे उनके टेबल पर एक लालटेन रखी है और लड़का उसमें कागज जलाने की कोशिश कर रहा है. लड़की चाबी का छल्ला अपने हाथों की उंगलियों में बारी-बारी से डाल रही है और निकाल रही है.

'साला बोर कर रहा है', मैंने फिर सोचा, 'अगर मेरे पास सिगरेट होती तो कितना अच्छा रहता.'

शायद उसने मेरी ऊब भांप ली थी. बात बदलने की कोशिश में वह जल्दी ही मेरी पकड़ में आ गया.

वैसे अगर मैं सीधा उत्तर देता तो गिरफ्त में मैं ही होता.

उस खास आदमी के अंदर घुसते ही चारों सरदार खड़े हो गये और उसके मेज तक पहुंचने से पहले ही उसे घेर लिया. हम दोनों बिल्कुल कट गये थे. राजेंद्र हमारे साथ बैठा था. उसके बाद वे सरदार और आखिरी कोने में वह, खास आदमी.

जल्दी ही वे पांचों बातों में डूब गये. उनके वाक्यों में से 'आस्ट्रेलिया', 'कनाडा', 'स्टेट्स' और 'इंगलैंड' शब्द तैरते हुए हम तक पहुंच रहे थे. वैसे हम तीनों ही काफी अलग पड़ गये थे. सुरेश छत की ओर नज़रें ताने हुए था. मैं फर्श की ओर देखता हुआ अपने को व्यस्त बनाये रखने की कोशिश में था. राजेंद्र ने सिगरेट सुलगा ली थी.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समोसे आये तो सुरेश जरा ज्यादा बेवकूफी पर उतर आया. सब लोग समोसे खा चुके थे और वह अभी सॉस ही उलट रहा था. चाय आयी तो उसने एक के बाद एक, चार चम्मच चीनी अपने कप में डाल ली और हिलाने लगा. फर्क रत्ती भर नहीं था, वे बेवकूफी भरी बातों में उलझे थे और हम हरकतों में.

चाय के घूंट भरते समय मैंने चिड़ियाघर के बेहतरीन पंछी, उस अजूबे को ध्यान से देखा. चीज शानदार थी. बढ़िया सूट, चिकनी दाढ़ी और बढ़िया कटे बालों में वह वाकई स्मार्ट लग रहा था. चारों सरदार उछल-उछलकर सवाल फेंक रहे थे और वह बड़े मजे से जवाब दिये जा रहा था.

भटकती हुई मेरी निगाह, फिर सुरेश पर पड़ी. उसकी हालत नाजुक थी. बुरी तरह तना हुआ चेहरा और भारी आंखें लिये वह यूं बैठा था जैसे अभी रो पड़ेगा. मुझे डर लगा. तभी राजेंद्र सुरेश से बात करने लगा. सुरेश के चेहरे पर ढीलापन उतर आया. यह स्थिति मेरे लिए भी अनुकूल थी. मैं आसानी से दोनों की तरफ देखता रह सकता था.

"मेरी जगह पर कौन आया है ?" सुरेश पूछ रहा था.

"वही, चश्मे वाला क्रिश्चियन." राजेंद्र ने उत्तर दिया.

"अच्छा वही, शिमले वाला. दरअसल वह स्मार्ट दिखने की कोशिश बहुत करता है, पर है बिल्कुल नहीं."

"अजी, है तो साला कुछ भी नहीं, क्रिश्चियन होने की वजह से रख लिया और क्या!" राजेंद्र ने अपने सधे हुए अंदाज में कहा और कश लेने के लिए सिगरेट मुंह में दबा लिया.

"और डेला? चली गयी?" सुरेश कान्वेंट के बारे में सब कुछ जान लेना चाहता था.

"अभी यहीं है, वैसे जल्दी ही चली जायेगी, उसके पासपोर्ट वगैरह का कुछ चक्कर है. जिस दिन आ जायेगा, उसी दिन..." राजेंद्र ने हाथ से चिड़िया उड़ने का इशारा किया.लेकिन सुरेश हंसा नहीं. गंभीर बना रहा.

"आप जरा ध्यान रखियेगा. अपनी एक कन्या है, बंगालन, अंग्रेजी अच्छी बोलती है, मेरे साथ ही इंग्लिश लिट्रेचर में एम.ए. कर रही है."

"यार, तुम भी अजीब आदमी हो, एम.एस.सी. करने के बाद लिट्रेचर में एम.ए., खुद की नौकरी छूट गयी और दूसरों के लिए कोशिश कर रहे हो. खैर एप्लीकेशन मुझे दे देना, पता नहीं डेला किस दिन चली जाये."

"हां-हां, आपसे मिलवा दूंगा, कल सुबह ले आऊंगा."

'...साला लगा हुआ है चमचेबाजी में, अरे भई कालेज तक तो ठीक है, पर हर समय वही, हद है.' मुझे हंसी सी आने लगी थी.

"यार क़रवा देंगे, जरूर करवा देंगे, ये भी भला कोई काम है, तुम एप्लीकेश दे देना." राजेंद्र ने काफी जोर से कहा. पर किसी ने ध्यान नहीं दिया.

सुरेश कुछ देर और बातों में उलझे रहना चाहता था लेकिन लंबी खींचने के चक्कर में वह मार खा गया.

"आज का खेल बहुत बढ़िया रहा, पिच शानदार थी."

"होगा साला." कहकर राजेंद्र ने धुंआ उछाल दिया और उनकी तरफ देखने लगा. सुरेश के माथे पर पसीना फिर इकट्ठा होने लगा.

सुरेश का सिलसिला मेरी पकड़ में नहीं आ रहा था. राजेंद्र अंग्रेजी कम जानने की वजह से जम नहीं पा रहा था. वैसे वह उनकी हंसी में पूरा साथ दे रहा था. मैं तो चुप था ही. राजेंद्र के दो-तीन बार कहने पर चला आया था. राजेंद्र पिछले कई दिनों से भूमिका बांध रहा था, कोई भी बात चलने पर वह शुरू हो जाता, "अजी, यहां कुछ नहीं रखा है, विदेशों में मेहनत करने वाला आदमी लाखों कमाता है. मेरा एक दोस्त है, वर्मा, आस्ट्रेलिया से उसकी चिठ्ठियां आती हैं. इंग्लैंड की एक फर्म ने अभी उसे एक कांट्रेक्ट दिया है, एक बुक-सीरीज लिखने का. लाखों कमा रहा है."

इस बीच उससे कोई भी बात करना मुश्किल होता था. कुछ भी कहने पर वह हमेशा हाथ झाड़ देता, "अजी यहां कुछ नहीं रखा, सब कुछ ऐसा ही है साला. हमारी तो किस्मत ही खराब है साली."

और इस वर्मा के आने के बाद तो वह और कोई बात ही नहीं करता था, "यार, चार घंटे रहा मेरे साथ आज. चार सौ रुपये खर्च कर दिये होंगे उसने. सौ का नोट तो यूं निकालता है, जैसे एक का हो. कहता है...यार रुपये की चिंता मत करो. रुपया मेरे पास बहुत है." यहां तक पहुंचकर वह रुक जाता, एक ठंडी सांस खींचता और कहता, "एक साले हम हैं कि पड़े हुए हैं."

यही उत्सुकता मुझे खींच लायी थी कि कम से कम देख तो लें एक बार. आखिर किस चिड़िया का नाम है वर्मा.

लेकिन सुरेश की बात और थी. वह कैरियर बनाने के ऐसे बेहतरीन मौके पर फर्राटेदार अंग्रेजी बोलकर फायदा उठा सकता था. पर इस समय तो उसकी हालत खराब थी.

हालत तो मेरी भी खराब थी. मेरा सिर भारी था, पेट में दर्द हो रहा था और हल्का जुकाम भी था. सबसे गलत बात यह थी कि मेरा ब्लैडर भरता जा रहा था और मेरे लिए अपने आपको संभालना निरंतर मुश्किल होता जा रहा था.

सरदारों ने अपनी जेबों से कागज के टुकड़े निकाल लिये थे और वे उसका पता नोट कर रहे थे. वाक्य तेजी से बनने और टूटने लगे थे. मैंने राहत-सी महसूस की और चेहरे पर फैलती झुरझुरी को रोकने के लिए हाथ फेरा.

वे लोग उठ गये.

रेस्तरां से बाहर आकर आधा फर्लांग तक चलने के बाद सिर्फ चार आदमी बच गये थे. मैं, राजेंद्र, सुरेश और वह. यही वह स्थिति थी, जिसके लिए हम तैयार होकर आये थे. कुछ देर हम यूं ही चुपचाप चलते रहे. फिर राजेंद्र ने ही कहा, "क्यों, कहीं बैठा जाये?"

"ठीक है, बैठ जाते हैं".... सुरेश अभी तक उसी माहौल में था. उस आतंक से छूट पाना उसके लिए असंभव-सा हो गया था.

"मैं चलूंगा." कहकर मैंने हाथ बढ़ा दिया.

अलग होते ही, 'क्यों' और 'थोड़ी देर और ठहरा जा सकता था' को अपने ऊपर हावी न होने देने की कोशिश करता हुआ मैं सड़क के किनारे पहुंचा और पैंट के बटन खोलने लगा. □

■ रिसर्च एवं प्रोटोटाइप्स प्रोजेक्ट, भारतीय फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान, पुणे-411 004

Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाकुओं को सलाह

■ पूनम रानी सिंह

पिछले वर्ष के अप्रैल की अमवस्या की रात्रि की बात है, मैं अपने पति एवं बच्चों के साथ राजकीय अस्पताल अत्तरी (गया) के आवासीय भवन में सो रही थी. असह्य गर्मी के कारण बेटी ब्लूमी की नींद ढाई बजे खुल गई. खूब रोने लगी. तभी मेरे पति भी जग गए और उसे बहलाने के लिए आंगन में ले जाने लगे और मैं उसका दूध तैयार करने के लिए गिलास, पानी, दूध इकट्ठा करने लगी. ज्योंही मेरे पति ने सिटकिनी खोलने के लिए नीचे दबायी बाहर से सात-आठ आदमियों ने बंदूक, लाठी सहित तेजी से धक्का दिया और किवाड़ खुलते ही हमारे कमरे में घुस आये और हम लोगों के मुंह पर टार्च की रोशनी मारकर हमें शोर-गुल मचाने पर गोली मारने की धमकी देकर हमारा सामान ढोकर ले जाने लगे.

इसी बीच हमारे छः वर्ष के बेटे अनुपम की नींद खुली. और वह दृश्य देखकर वह बोला, "ऐ लोगो! ये ब्लडप्रेशर नापने की मशीन और माइक्रोस्कोप क्या करोगे? ये तो डाक्टरी का सामान पापा का है, इसे तो छोड़ दो".

अप्रत्याशित आक्रमण से हम लोग बड़े होकर भी उस वक्त किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए, पर अपने बेटे द्वारा उन डकैतों के समक्ष बोली गयी उपरोक्त बात कभी भुलाये नहीं भूलती.

एक अपरिचिता

■ मुकेश कुमार सिन्हा

उस दिन मैं अत्यधिक जल्दी में था. 'युव-वाणी' (आकाशवाणी पटना)से मुझे 'मेरी पसंद'प्रोग्राम पेश करना था. अपने आप में काफी खोया-खोया-सा था मैं. कभी कुछ बुदबुदाता, कभी मुस्कुराता और कभी उन चुने नगमों को, जिन्हें आज 'मेरी पसंद' में बजाना था, गुनगुनाने लगता. जी चाह रहा था कि मैं जल्द से जल्द रेडियो स्टेशन पहुंच जाऊं.

'कहां जाइएगा, साहब!' बस में चढ़ते ही कंडक्टर ने मेरे नजदीक आकर पूछा.

...और भुलाये न बनें

अविस्मरणीय सपने, घटनाएं, संस्मरण प्रस्तुत करता केवल पाठकों का अपना स्तंभ

'डॉक-बंगला,' इसके साथ ही मैंने 35 पैसे बढ़ा दिये.

"55 पैसे लगेंगे."

"भाई मैं स्टुडेंट हूं. यह रहा मेरा आइडेंटिटी कार्ड." पतलून की जेब से आइडेंटिटी-कार्ड निकालकर बढ़ा दिया. उसने मेरा कार्ड देखा. फिर चुपचाप 35 पैसे रख लिए, एक टिकट थमाया और आगे बढ़ गया.

जब मैं रेडियो स्टेशन पहुंचा प्रोग्राम में अभी समय था सो सोचा क्यों न एक बार स्क्रिप्ट पर निगाह डाल लूं. पर जैसे ही जेब में हाथ डाला सन्न रह गया. मेरा आइडेंटिटी कार्ड गायब था. आइडेंटिटी कार्ड में स्क्रिप्ट एवं प्रोग्राम का कांट्रेक्ट लेटर रखा हुआ था. दस मिनट के पश्चात मेरा प्रोग्राम था और दस मिनट के अंदर घर जाकर स्क्रिप्ट की दूसरी प्रति भी नहीं लायी जा सकती थी. मैं एकदम किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया. इतने में एक चपरासी मेरे पास आया और बोला, "मुकेश जी, आपको शशि नाम की एक लड़की खोज रही है. नीचे ऑफिस में बैठी है."

जैसे ही मैं ऑफिस में पहुंचा एक युवती ने अपने हेंड-बैग से एक आइडेंटिटी कार्ड निकाला और मेरी ओर बढ़ा दिया. मैंने पूछ ही लिया, "यह आपको कहां मिला ?"

"बस में." एक संक्षिप्त-सा उत्तर. मैं कुछ और पूछना चाह रहा था परंतु वह अपनी रिस्टवॉच देखते हुए बोली, "देखिए, 7.28 हो चले हैं. जाइए, जाकर प्रोग्राम दीजिए. बातें बाद में भी होंगी." मैं उसे ठहरने को कहकर प्रोग्राम देने चला गया मगर जब लौटा तो वह वहां न थीं.

सहृदय-बालिका

■ रंदी सत्यनारायण राव

मेरे घर से कुछ ही दूरी पर एक दरिद्र नारायण अपने तीन बच्चों के साथ जीवनयापन करते थे. वे रोग ग्रस्त थे. एक दिन वे तीनों को असहाय अवस्था में छोड़ चल बसे. चूंकि, वे खुले आकाश के बसेरे थे, और छोटे बच्चे थे. (एक नौ वर्षीय बालिका व दो क्रमशः चार-पाँच वर्ष के बालक) इस कारण वे अपने पिता के कफन हेतु दर्शक-राहगीरों से भिक्षा मांगने लगे... उसी समय एक दस-ग्यारह वर्षीय बालिका को मैंने देखा... जो बड़े ध्यान से अपने जैसे बच्चों को भीख मांगते देख रही थी, आगे बढ़ी और 'दस- रुपये' का नोट देकर उन्हें देखने लगी. चूंकि उस जैसा सहृदय दान-दाता कोई न मिला था, इसी कारण नौ वर्षीय बालिका 'दान-दाता' को लौटा कर बोली, "मेरे पास इसके खुदरे पैसे नहीं हैं..."

दान-दाता को सर्वप्रथम उसके व्यवहार पर आश्चर्य हुआ. फिर उसने पूछा, "क्या मतलब! मैं आपकी बात समझी नहीं." जवाब में पंक्तिबद्ध दुल्हन-सी प्रतीत होने वाली दुकानों की ओर इशारा कर बालिका बोली, "ये सब लोग मेरे पिता के कफन वास्ते पैसे मांगने पर हम भाई-बहनों को कुत्तों की तरह दुत्कार कर कहते हैं...जाओ हरामी के पिल्लो, चोरी करो, भीख क्यों मांगते हो! और फिर आपकी तरह कोई देता भी है तो कहता है सुन छमिया,... नोट में से तू पांच पैसे लेकर बाकी पैसे वापस कर." वह अपनी बात पूरी कर फूट-फूटकर रोने लगी.

"नहीं बहन...., दस रुपये के खुदरे पैसे में नहीं मांगती, ये तो स्कूल की फीस के पैसे थे. माताजी से कहकर और ले लूंगी. मैं तो इन्हें आपके बापू के कफन के लिए दे रही हूं. इन्कार न कर ले लीजिए..." इतना कहकर वह ग्यारह वर्षीय बालिका उछलती-कूदती भीड़ में कहीं खो गयी. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वामा की गागर में ज्ञान का सागर

नारी-ज्ञान की पूरक: वामा

नारी स्वयं अपने आप को कितना समझ पाई है?

नारी के बारे में जो बातें अक्सर नारी तक भी नहीं पहुंच पातीं, उन सभी को **वामा** बड़ी सरल और मनोरंजक शैली में उस तक पहुंचा कर नारी के अधूरे ज्ञान को पूरा करती है। **वामा** नारी-ज्ञान की पूरक है।

हीन भावनाओं में जकड़ी नारी को **वामा** नया आत्म-विश्वास देकर उसे वक्त के मुताबिक आगे बढ़ने को प्रेरित करती है।

वामा का हर पृष्ठ ज्ञानवर्धक है।

विषय चाहे घर-परिवार का हो या देश-विदेश;
साहित्य और कला हो या सैर-सपाटा;
विज्ञान हो या फिल्म-जगत;
नारी-तन की जानकारी हो या नारी-मन की;
बच्चों का पालन-पोषण हो या स्वयं अपने भविष्य का निर्माण।

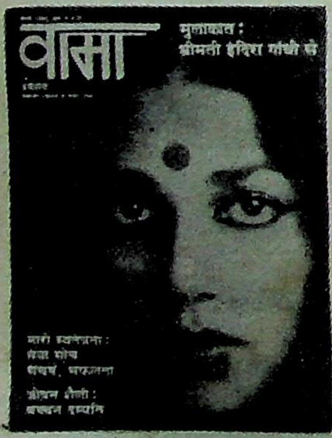

वामा नारी के वर्तमान और भविष्य का आईना है

वामा
वामा
वामा

विचारशील महिलाओं की विशिष्ट पत्रिका

टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन

ARMS/D/1114 84/A

Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारावाही उपन्यास : बारहवीं किस्त

दशार्क

• जैनेंद्र कुमार

आप पढ़ चुके हैं कि

बड़े घर की एक लड़की साधारण घर के एक यूनिवर्सिटी टॉप लड़के की पत्नी बनी. सात बरस बीत गये. परिस्थितियां बिगड़ी, उसने पत्नीत्व के अधिकार से वंचित कर दिया. पत्नी का अंत हुआ और एक नव-रमणी का आविर्भाव, देह-व्यापार करने वाली एक संवेदनशील मानुषी. देह को वह मूलधन मानती है और इसे खर्च करने में विश्वास नहीं करती. दरवाजे पर बोर्ड 'कन्सलटैंट' का लगा है. पुरुषों से मिलने की फीस हजार रुपया लेती है. विभिन्न प्रकार के लोग उसके पास आते हैं और उसके जीवन दर्शन के कायल होकर लौटते हैं.

रंजना अपनी शैया पर लेटीं हुई थी. पुस्तक हाथ में. शैया यानि काठ का तख्त. कमरा मुश्किल से दस गुणा बारह का होगा. बराबर में बस बिना पीठ के दो मोढ़े थे.

भीतर अपने वह कुछ उलझ गयी थी. कर्म की महत्ता है. अ-कर्त्तृत्व, यह गीता बताती है. यानि कर्म रहे, कर्त्ता न रहे. इस अटपटी बात को खोलने के लिए भागी गयी थी वह मुनि के पास. आत्मा के लाभ के लिए वह अकिंचन और नग्न बन गये हैं. अच्छा तो लगा था उसे कि मुनि मुनि हैं, मूरत नहीं हैं. उद्यत हैं और सचेत. लेकिन यही है क्या जिसे कर्मयोग का उदाहरण कहेंगे? उसका मन भरा नहीं, और वह कहीं प्रत्यक्ष में से पा लेना चाहती है कि अकर्म में से महत्कर्म की सृष्टि कैसे हो सकती है. चुनौती तो समक्ष है कर्म की. प्रगट में अकर्म उससे मुंह फेर लेना ही नहीं है. पर अर्जुन के तो फिरे मुंह को उसी ने उठाया कि उसके हाथों गांडीव गरजे...

कि दालान में से सीधे आते हुए मानिक लाल को देखकर उसे अचरज हुआ. निषेधाज्ञा सख्त थी कि कोई न आये. पर शायद कर्मचारी मानिक लाल को रोकने का साहस न कर सके. तो भी दालान को पार करते हुए इस तरह सीधे चले आते मानिक के लिए वह उठी. कमरे में आकर मूढ़ा सामने किया कि वह बैठे, पर वह बैठे नहीं, इसलिए रंजना भी तख्त के पास खड़ी ही रह गयी.

मानिक लाल ने कुछ सख्ती से उसे देखा. लेकिन उस समय जिस मोटे सूत की अकेली साड़ी में लिपटी वह खड़ी थी, उसके साथ सख्ती निभती न लगी. बोले, "आपको मालूम है, समाज में हम लोगों पर आपत्ति की जा रही है कि क्यों हम आपको महाराज के पास ले गये... और मालूम हुआ, फिर भी आप गयी थीं!"

"बैठियेगा नहीं?" कहते हुए फिर मूढ़ा खींचकर उसने

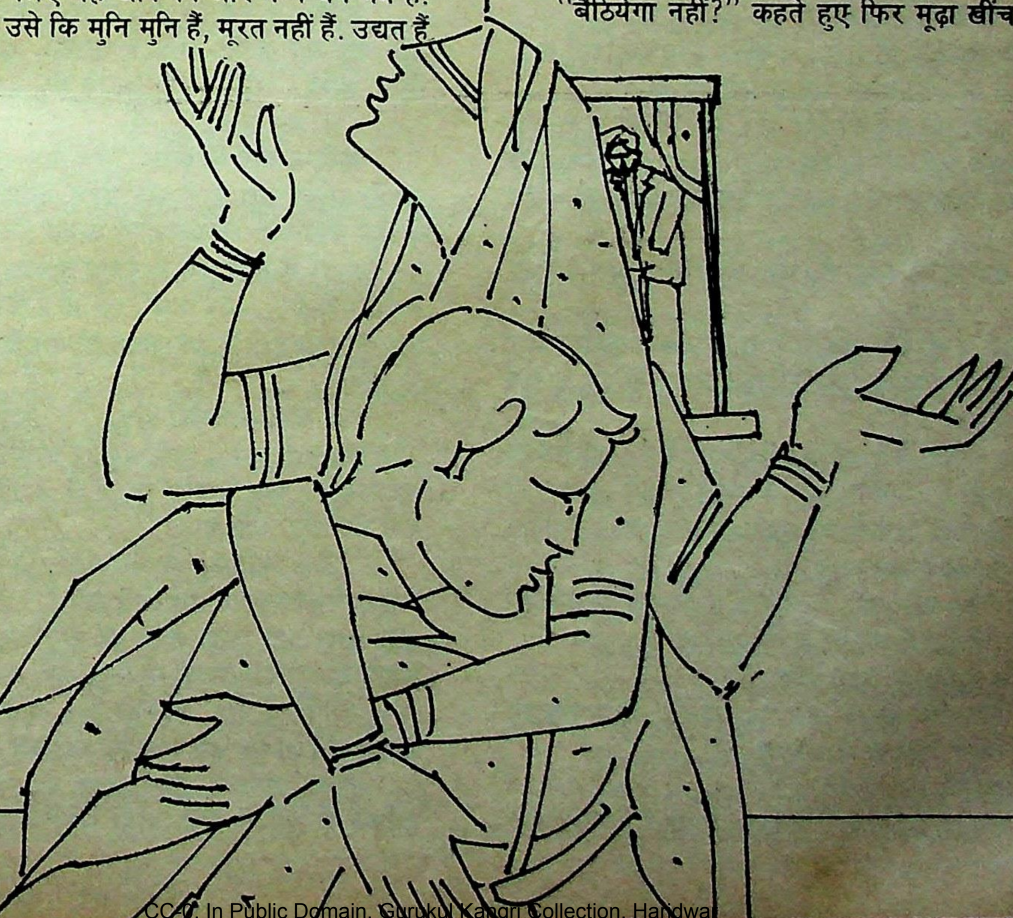

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानिक लाल की ओर किया.

''आप क्यों गयीं बिना बताये?''

''तो बैठियेगा नहीं. खैर, ये कहिए, आपके लिए मैं 'आप' कैसे हो गयी?''

''क्यों कहे बगैर जाना जरूरी हुआ ?''

''हां, जरूरी तो हुआ... आपके गुरु आपके ही हैं ? ....क्या मैं बैठ सकती हूं ?'' कहने के साथ वह चलकर अपने तख्त पर बैठी.

कुछ देर मानिक ठिठका रहा. फिर वह भी बैठता हुआ बोला, ''आगे आप नहीं जायेंगी.''

''ठीक है, नहीं जाऊंगी.''

''सुनिये, मैं आवश्यक नहीं मानता हूं कि पांच लाख आपको दिया जाये.''

''मैं भी आवश्यक नहीं मानती हूं.''

''इसके लिए समाज का अनुमोदन नहीं है.''

''होना भी नहीं चाहिए.''

''मैं यहां एक तरह चोरी से आया हूं. समाज की तरफ से ताकीद हुई है कि आपका मुंह न देखूं.''

''फिर क्यों पधारे हैं आप ?''

''मधु ने कहा, इसलिए!''

''उन्होंने कहा ?''

''उसने तय किया है कि वह भी आगे महाराज के दर्शन को नहीं जायेगी.''

''और आप ?''

''मुझे तो समाज के साथ रहना है!''

''और महाराज ?''

''वह समाज से कैसे बाहर जा सकते हैं!''

''लेकिन उन्होंने तो मुझे .....बल्कि निमंत्रण दिया था.''

''गलती की थी. हमने भी गलती की थी.''

''महाराज मान गये गलती? और आप भी मानते हैं. फिर मधु पत्नी होकर क्यों नहीं मानती? और आप उनकी समाज की इस अवज्ञा को उनके कहने से यहां आकर क्या बढ़ावा ही नहीं दे रहे हैं ?''

''मुझे समाज में रहना है. क्या करूं? मगर मधु आपकी भक्त है.''

''आपको उन्हें मेरी छूत से बचाकर रखना चाहिए और पति के नाते कहना चाहिए कि उन्हें कोई हक नहीं इस बारे में पति से अलग रहने का.''

''लेकिन रंजना, मधु सही है, और अगर उसमें साहस है तो यह और भी सही है.... सच कहूं, मैं माफी मांगने आया हूं.''

सख्ती स्वर की उसकी जा चुकी थी और बाकी में हठात जैसे निवेदन का स्वर घुल चला था.

''माफी किस बात की ?'' रंजना कहते हुए मुस्करायी. ''मैंने कहा न था कि मैं पतिता हूं, पातकी हूं!''

''लेकिन रंजना, मैं सुखी नहीं हूं.''

रंजना उस भीगे कातर बोल पर मानिक को देखती रह गयी. कहा, ''सुखी कौन है ? कोई है ?''

''तुम हो—जो स्वतंत्र हो.''

रंजना हंस आयी, बोली, ''गनीमत है कि मैं 'आप' से 'तुम' तो हुई.....मानिक सेठ, सुख कहीं नहीं है!''

''...रंजना, मैं यहां के जन समाज का अध्यक्ष हूं. लेकिन देख रही हो मेरी यह हालत!''

''मुझसे पूछते हो तो यह ठीक ही हुआ है. समाज के धुरी पुरुषों को अपने व्यवहार के बारे में सावधान रहना चाहिए!''

''हां, मैं धुरी हूं और सावधान भी. इसीलिए न, तुम कृपा पूर्वक आयी तो मैंने तुम्हें घर से निकाल दिया था.... रंजना, बोझ है यह प्रतिष्ठा और यह धन!''

''मानिक सेठ, तुम ऊंचे हो, धनाढ्य हो. लेकिन मुझे तुमने अपनी बराबरी में लिया है. इसलिए कहती हूं—देखना, मूर्खता न करना. अपने दायित्व का तुम्हें ध्यान रखना होगा. भावना में मत बहना कि आगे फिर मेरे यहां आओ.''

मानिक ने मूढ़ा आगे किया और रंजना का दायां हाथ अपने दोनों हाथों में लिया और दबाकर बैठा रह गया. बोला, ''रंजना!''

रंजना ने हाथ खींचा नहीं, उल्टे अपना दूसरा हाथ भी बढ़ाकर उस पर रख दिया.

मानिक को याद आया कि एक समय उसके कंधे पर रखा हाथ एकदम झटककर वापस खिंच आया. तो क्या इस बार.... बोला, ''रंजनी!''

दोनों के दोनों हाथ उसी तरह आपस में गुंथे थे और मानिक की कंपती वाणी का कोई उत्तर नहीं आया था. रंजना बस अधमुंदी पलकों से मानिक को देखती और समझती रह गयी थी.

मानिक क्षमाप्रार्थी सा फुसफुसाया, ''रंजनी!!''

रंजना मुस्करायी, आश्वासन-सा देती बोली, ''पुरुष में स्त्री के लिए चाहत हो तो इसमें दोष नहीं है, मानिक!''

मानिक ने अब दबे हाथ को लिया और पहले माथे से, फिर एक-एक कर अपनी आंखों से लगाया, और फिर एकदम छोड़ दिया. बोला, ''रंजना, तुम कहती हो, कभी मैं न आऊं ?''

''हां, कहती हूं.''

मानिक जोर से बोला, ''यह पाप नहीं कर रहा हूं मैं कि समाज से डर रहा हूं ? मुनि डरेंगे, क्योंकि गुरु हैं. मैं डरूंगा, क्योंकि प्रधान हूं. लेकिन दोनों जानते हैं कि यह अधर्म है!''

उत्तर में उसी बल से रंजना ने कहा, ''और मैं कहती हूं, अधर्म नहीं है! ...और अधर्म यह भी नहीं है कि जब तुम में मेरे लिए चाहत हुई तो मैं उस चाहत को चाहती हूं... लेकिन तुम नहीं आओगे.''

''मैं धोखेबाज नहीं हूं क्या ?'' मानिक ने रोष से कहा, ''कि बहलाता रहा हूं तुम्हें, तुम्हारे सामने पांच लाख की बात लटकाकर... क्या चाहता रहा हूं मैं ? रंजना.... माफ करना. मेरा मन शुद्ध नहीं था.''

''छोड़ो मानिक, आत्मधिक्कार अच्छा नहीं होता....मन में तुम्हारे कामना रही मेरे लिए यही न ? तो इसमें गलत नहीं है. और अगर पांच लाख रुपये की ताकत का तुम्हें पता रहा तो इसमें भी तुमसे व्यापारी के लिए कुछ गलत नहीं है...''

उसने छूटे हाथ को फिर हाथ में लिया, बोला, ''रंजना, कह सकती हो कि तुम मुझे धिक्कारोगी नहीं ?''

रंजना सुनकर अपने तख्त से उठी, चक्कर काटकर मानिक के मूढ़े के पीछे आयी, और उसके सिर को हाथों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थामकर बाल पर चूमा और कहा, "मानिक, मत समझना तुम्हारी चाहत को मुझसे कभी भूले भी तिरस्कार हो सकेगा... पर चाहती हूं कि यह चाह तुममें सदा हरी रहे. इससे कहती हूं कि अब आना मत."

अपनी कनपटी पर से रंजना के दोनों हाथों को कब्जे में करके मानिक ने अपने मुंह से छुआया, कहा, "यह नहीं होगा, मुझसे नहीं होगा."

रंजना ने अपने उन हाथों को उन होंठों से हटा लिया और उनसे मानिक के दोनों गालों पर थपथपाते हुए कहा, "होगा मानिक, यही होगा. हम नहीं मिलेंगे."

मानिक निश्चेष्ट बैठा रह गया. रंजना ने पीछे से मानिक का मुंह ऊपर लिया और उसकी आंखों में देखते हुए कहा, "कहो कि तुम नहीं आओगे."

मानिक की आंखें बंद थीं. वह देख नहीं रहा था. एक भी शब्द उसके मुंह से फूट नहीं सका.

कि पीछे से कदमों की आहट हुई और ध्वनि आयी, "ओह!"

रंजना ने पीछे मुड़कर देखा, एक व्यक्ति कमरे के किनारे आकर वापस लौटा जा रहा है. रंजना मानिक को छोड़कर उसके पीछे लपकी और पहुंचकर जब उसे बांह से थामा और मुड़ने पर चेहरा देखा तो एकाएक बोली, "आप!" और अचरज से उबरकर फिर कहा, "जाते कहां हैं ? आइये न."

यह वही व्यक्ति था जिसने एक बार रंजना को विवश किया था कि खादी की साड़ी बदल कर सिल्क पहनकर सामने आये.

"आइये, "और रंजना उसे कमरे में ले आयी और खाली मूढ़ा सामने किया. मानिक लाल अपनी जगह से खड़ा हो आया था कि दीखा, दोनों एक दूसरे को देखकर चकित से रह गये हैं.

"आप दोनों परिचित हैं. शायद ?" रंजना ने कहा, "आप सेठ मानिक लाल जी हैं, और आप..."

मानिक लाला ने कहा, "मैं चलूंगा अब."

"मैं, बड़रिया, माधवदास."

दोनों ने एक दूसरे को हाथ जोड़े और मानिक लाल ने जाने को कदम उढ़ाया.

"आप बैठिये, जाना तो मुझे चाहिए. मैं जा ही रहा था, लेकिन..."

मानिक लाल कुछ अनमना हो आया था. फिर भी हठात आदरभाव से माधवदास को उसने कहा, "आप अभी आये हैं, आप बैठिये. मुझे इजाजत दीजिये."

"मैं अभी आयी." कहती हुई रंजना भी उसके साथ हुई और आंगन के पार होते ही बोली, "मानिक क्या बात है?

"ऐसे लोग भी तुम्हारे यहां आते हैं!"

रंजना हंसी, "मेरे यहां सब आते हैं!"

"...अच्छा, नमस्कार!"

नमस्कार का व्यंग्य बहुत ही स्पष्ट था और रंजना संतुष्ट-सी बोली, "नाराज जा रहे हो ? पर अच्छा है, तुम नहीं ही आओ. यह जगह ठीक नहीं है... माधुरी बहिन को मेरा नमस्कार कहना."

वापस आयी तो माधवदास अपनी जगह खड़ा हो आया, जब रंजना ने कहा, "मुझे माफ़ कर दीजियेगा." कहती हुई वह अपने तख्त पर नहीं बैठी, वरन दूसरा मूढ़ा लेकर सामने ही बैठ गयी. पूछा, "आप जानते थे सेठ साहब को ?"

"खूब अच्छी तरह जानता हूं."

"क्या इसीलिए वे चले गये ?"

"हां, इसीलिए... लेकिन ये लोग हिम्मत कैसे कर पाते हैं आप तक आने की!"

"हिम्मत तो आपने भी की है!"

"हम आप तो एक बिरादरी के हैं. वह बड़े सेठ हैं शहर के! चोटी के धनी-मानी... और तुम...लेकिन याद है न तुम्हें मेरी.... मुझे खद्दर चुभती है!"

"तो जरा आप बाहर बैठेंगे, मैं सिल्क बदलकर आती हूं आपके पास."

"हां, मैं बाहर बैठता हूं. खादी बर्दाश्त नहीं कर सकता हूं... लेकिन इस मानिक लाल को यहां 'तक' तुमने कैसे आने दिया ?"

रंजना मानो समझी नहीं, पूछती-सी निगाह से देखती रह गयी कि 'तक' क्या ?

माधव जल्दी से बोला, "इस तख्त तक, जो तुम्हारा पलंग है और खुद खद्दर है और इस कमरे तक जो शयन-कक्ष है ?"

"आप मुझे क्या समझते हैं ? क्या आपने देखा नहीं कि मैं किस हालत में थी..."

"देखा था, इसीलिए लौट चला था."

"तो फिर...?"

"फिर कुछ नहीं... मैं बाहर बैठता हूं."

रंजना उस जाते हुए आदमी को आश्चर्य से देखती रह गयी. उसमें मेरे लिए अब भी संभ्रम शेष है! यह कैसा आदमी है ? इसके मन में तृष्णा का, ईर्ष्या का बीज नहीं है! मन हुआ कि वह जाये और अपने हाथों से सोफा को झाड़पोंछ कर उसे वहां बिठा आये. लेकिन उसने अपनी खादी की साड़ी को देखा. देखा वह इकहरी ही उसके शरीर पर है. और मान लिया कि इस रूप में वह पुरुष के समक्ष नहीं हो सकती, केवल खादी में!

पहुंची तो अतिथि कक्ष में व्यक्ति कालीन पर सिर झुकाये टहल ही रहा था, बैठा नहीं था. उसके पहुंचने पर अनायास बोला, "आइए!" रंजना के बैठ जाने पर वह भी बैठा, कहा, "अब ठीक है. तुम्हें सिल्क में रहना चाहिए."

रंजना ने उस पुरुष में देखा कि तनिक भी व्यंग्य नहीं था. वह सहसा बोली, "मैं मानिक लालजी के गले में बाहें डाले हुए थी, न ?"

व्यक्ति ने सुना और कुछ कहा नहीं.

"और वे सेठ हैं."

उसने यह भी सुन लिया.

"आपको कुछ कहना नहीं है ?"

"इस बारे में ? नहीं."

"आपको बुरा नहीं लगा ?"

"लगा बुरा—यह कि मैं क्यों पहुंचा ऐसे समय... तुम समझ सकोगी, वह डरा रहेगा!"

"मैं क्या समझ सकूंगी ?"

"यही कि इसमें डरने की कोई बात नहीं है. तुम मुझे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लौटाकर इसीलिए नहीं ले गयी थीं कि तुममें दुविधा न थी. डर न था."

"मैं तो बेहया हूं... उनकी इज्जत है."

"देखिये, आप मुझसे इस तरह की बात नहीं करेंगी, उनकी इज्जत मैं छीनने नहीं जा रहा हूं. बल्कि उन करोड़पति सेठ की इज्जत को बनाने में मेरा भी हाथ है....लेकिन मेरे सामने अपनी इस आदत को तुम छोड़ सकती हो कि अपने को बेहया कहो, फाहशा कहो. मैं जानता हूं, अंदर से तुम खद्दर हो... इसलिए जिद करता हूं कि मेरे सामने हो तो सिल्क में हो, क्योंकि मैं..."

रंजना याद कर सकती है, इस आदमी ने गुस्से में मुझ पर नोटों की गड्डी पर गड्डी फेंक मारी थी. गुस्सा मुझ पर उतरा था, लेकिन असल में सारी खीझ उसे अपने पर ही थी. यह अपने ऊपर खीज ही क्या जीवन में सबसे कीमती चीज नहीं है ? वह उसे देखती रह गयी.

"फिर भी रंजना...." उस आदमी ने कहा, "वैसे आदमी को तुम्हारे यहां आना नहीं चाहिए!"

"मैंने भी कह दिया है उनसे कि अब वह कभी न आयें."

"वह डरता हुआ आता है, उसे अपने खातिर नहीं आना चाहिए."

"उनकी इज्जत है..."

"और...इसीलिए डर है."

"लेकिन मैं आपसे कहती हूं कि वह अपने डर को और उसकी वजह को जानते हैं. आप उनसे नाराज नहीं रहेंगे..."

माधव ने मुस्करा कर कहा, "रंजना, पैसे दो हैं, एक काला, दूसरा सफेद. उसका पैसा सफेद है. इसलिए डर है."

रंजना हंसी, "आपका काला है, इसलिए डर समाज का नहीं, कुछ और का है. इतना ही तो फर्क है न काले गोरे में ?"

"हां, इतना ही... पर सफेद शायद ज्यादा काला है."

"जानती हूं."

"यह भी जानती हो, मैं किसलिए आया हूं ?"

रंजना ने अपेक्षा से उसकी ओर देखा. "इसलिए आया हूं कि पूछूं तुमसे कि मैं अपने को कानून को सौंप दूं. मुश्किल हो रहा है अब जीना!"

"लेकिन गृहमंत्री जानते हैं..... आपको खतरा नहीं है."

"वह भरोसा मुझे भरोसा नहीं देता रंजना. कानूनी खतरे की बात मैं नहीं कर रहा. बात यह है कि हम हैं इसलिए ऊपर मानिक लाल सेठ जैसे भी हैं. काला थामे है उस सफेद को. उस खतरे की बात कर रहा हूं तुमसे."

"मैं तो खुद कानून को तोड़कर रह रही हूं..."

"तुम भी तो अपने बारे में सोच रही होगी कि..."

"सोच रही हूं."

"मैंने यहां जो इधर-उधर छपा देखा तो अमरीका वाली पत्रिका खोज डाली. उसके बाद फ्रांस का लेख भी....."

"मैंने उसके लेखक को बुला भेजा है."

"तुम क्या चाहती हो ?"

"उसमें क्या लिखा था ?"

" 'परमिसिव सोसायटी' पर तुम्हारे व्यंग्य बाणों का जिक्र करके लिखा था कि तुम जाने क्या मुक्तता चाहती हो. हम पश्चिम को उसके बारे में सोचना होगा..."

"तो ?"

"मुझे तुम्हारी उस मुक्तता की बात ने पकड़ा है. इसी से मन में हुआ कि तुमसे पूछूं कि मैं अपने को कानून को सौंप दूं ?"

रंजना चुप रह गयी.

"क्रांतिकारी आते थे, जेल से बचकर गांधी के पास. वे वहां सुरक्षित थे. पर अंत में गांधी की सलाह होती थी कि वह बचें नहीं, सामना लें. क्यों थी यह सलाह गांधी की उनको ?"

"मुझे नहीं मालूम."

"तुम खादी पहनती हो घर में. सिल्क दूकान के लिए है ? पूछता हूं, क्यों पहनती हो खादी ?"

"मालूम नहीं."

"जानती तो हो, खादी गांधी की ईजाद है!"

"होगी."

"मैं कहता हूं यह कपड़ा नहीं है, मुक्तता है. तुम्हारी भी मुक्तता कुछ वैसी ही है—नहीं ?"

मेरे मन में इकनोमिक्स नहीं है. मुझे नहीं मालूम, फ्रांस के दोस्त ने मेरी बातों से कैसा क्या समझा और क्या लिखा है. मुझे निश्चय है, प्रेम उच्छृंखल नहीं हो सकता. मर्यादा वहां निहित है. जबरदस्त नकार भी है वहां."

"क्या मतलब ?"

"मतलब कि तुमने मुझे देखा. पुरुष के गले में बाहें डाले देखा. फिर भी कुछ कहा नहीं, टोका नहीं. क्यों ? यह मर्यादा कहां से आ गयी तुममें ?"

"क्या बक रही हो ?"

"बक रही हूं!"

"सीधे बताओ, सौंप दूं अपने को कानून को ?"

रंजना चिढ़ आयी, बोली, "मैं नहीं जानती." मानो चिढ़ कर ही उत्तर में उसने कहा, "किसलिए बुलाया है फ्रांस से उस लड़के को ?"

"लड़ने के लिए!"

"अपने भीतर लड़ नहीं रही हो अपने से ? उसी को न उस पर फेकोंगी ?"

"हां..."

"तो मुझे क्यों नहीं कहती कुछ ?"

रंजना ने उस आदमी को देखा, जो नंबर एक स्मगलर है, देखा और देखती रही. बोली, "कह सकती थी तुम्हें, 'हां' लेकिन पहले अपने को तो कह लूं."

"तो मैं ऐसे ही रहूं. कष्ट में जीता हुआ?"

रंजना ने कहा, "एक रोज गृहमंत्री आये थे. उन्हें फिर बुलाना होगा. आपको भी तब याद करूंगी. राज के कानून की रक्षा होनी चाहिए. हमको आपको उसमें टूटना पड़े तो कोई हर्ज नहीं. कानून को संस्कार ऐसे मिले तो मिले, नहीं तो उसकी मर्यादा को अभंग रखना होगा."

अगले अंक में

नारी का एक और ही रूप... विद्रोहिणी का... जिसके लिए समाज और कानून का कोई महत्त्व नहीं है... जो अहिंसा का मजाक उड़ाती है!

Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिल्मोत्सव 84

उपन्यासों पर आधारित कुछ खास फिल्में

■ कुंअर नारायण

उत्कृष्ट फिल्मों के साथ उत्कृष्ट साहित्यिक संवेदना की बात अक्सर उठती रही है. व्यवसाय की अपेक्षा फिल्म के कला-पक्ष को स्थापित कर सकने वाले ऐसे अनेक विश्वविख्यात फिल्मकार ध्यान में आते हैं जिन्होंने अपनी संवेदनाओं को मूलतः साहित्यिक माना है. वैसे भी फिल्म की टेकनोलॉजी की जानकारी और फिल्म के निर्देशन के बीच कोई बहुत सीधा रिश्ता है भी नहीं. प्रसिद्ध जापानी फिल्मकार कुरोसावा—जो ऐलानिया तौर पर अपनी संवेदनाओं को साहित्यिक कहते हैं—कार चलाना तक नहीं जानते, तथा उनके लिए एक मामूली 'स्टिल-कैमरा' को सम्हालना भी मुश्किल हो जाता है! फिर भी कुरोसावा की फिल्मों को देखना एक सूक्ष्म साहित्यिक अनुभव से गुजरने जैसा है... और यह सिर्फ इसलिए नहीं कि उन्होंने कई श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों का फिल्मांकन किया है, बल्कि इसलिए कि उन्होंने फिल्म के माध्यम से एक रचना को मौलिक भाषा देने की कोशिश की है. इसी तरह सत्यजित राय की फिल्मों में भी हम एक बहुत ही परिष्कृत साहित्यिक-संस्कृति को काम करते देखते हैं, और यह नितांत आकस्मिक नहीं कि राय ने स्वयं भी कुरोसावा को संसार के श्रेष्ठतम फिल्मकारों में से माना है... यह उल्लेखनीय तथ्य है कि फिल्मोत्सव 84 में जो दो जापानी फिल्में विशेष पसंद की गयीं, वे थीं ओशिमा की **'मेरी क्रिसमस मिस्टर लारेंस'** और इमामुरा की **'द बैले ऑव नारायामा'**... और ये दोनों ही फिल्में क्रमशः दो प्रसिद्ध उपन्यासों वान दर

फिल्मोत्सव—84 के दौरान अफ्रीकी सिनेमा पर आयोजित एक परिचर्चा गोष्ठी
● छाया : धर्मवीर जयनर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पोस्ट के '**द सीड एंड द सोअर**' तथा शीखीरो फुकाजावा के उपन्यास '**नारायामा बुशीको**' पर आधारित हैं.

यह जरूरी नहीं कि एक बहुत अच्छे उपन्यास या साहित्यिक रचना का उतना ही अच्छा फिल्मांकन भी हो, बल्कि फिल्मकारों (जैसे '**मेफिस्टो**' के प्रसिद्ध हंगेरियन फिल्मकार इस्तवान साबो) की तो यह मान्यता है कि सामान्य उपन्यास का फिल्मीकरण अधिक सुविधाजनक होता है क्योंकि उसके साथ ज्यादा आजादी ली जा सकती है, जबकि एक क्लासिक अपने आप में इतने दृढ़ और निश्चित व्यक्तित्व वाला होता है कि उसको किसी दूसरे माध्यम में 'अनुवाद' भर ही किया जा सकता है, उसकी पुर्नरचना दुस्साहस मानी जायेगी. संभवतः इसीलिए प्रेमचंद जैसे सिद्ध कहानीकारों की कृतियां हर फिल्मकार के लिए एक चुनौती रही हैं... और अब भी उनकी कहानियों के साथ जोर-जबरदस्ती की गयी है, वह सत्यजित राय जैसे फिल्मकार के लिए भी एक परेशानी बन गयी है, जैसे '**शतरंज के खिलाड़ी**'. इस माने में मृणाल सेन की '**ओका ओरी कथा**' ('**कफन**' पर आधारित) ज्यादा सफल इस कारण भी रही कि उन्होंने प्रेमचंद की मूल कथावस्तु को लगभग ज्यों का त्यों रखा—जो भी विस्तार किया, वह मूल कथा को बिना छुए ही, उसके पूर्वांश में किया. लेकिन ऐसा कोई कट्टर नियम नहीं बनाया जा सकता कि एक महान् साहित्यिक रचना में परिवर्तन करके महान फिल्म नहीं बन सकती. एक ओर अगर '**अन्ना करेनिना**', '**ब्रदर्स करमा जोव**', '**वार एंड पीस**', '**लोवर डेप्थ्स**' जैसी फिल्मों का उदाहरण है जो भरसक मूल कृति के प्रति वफादार रहती हैं, तो दूसरी ओर कुरोसावा की '**थ्रोन आफ ब्लड**' का उदाहरण भी है जो शेक्सपियर का नाटक '**मैकबेथ**' का 'व्याख्यात्मक' फिल्मीकरण है और बहुत ही कलापूर्ण ढंग से जापानी शैली व वातावरण को अपनाता है. फिर भी, सामान्य उपन्यासों पर कुछ बहुत अच्छी बनी फिल्मों के ज्यादा उदाहरणों का मिलना इस बात को जरूर सिद्ध करता है कि एक उत्कृष्ट फिल्म और एक साहित्यिक कृति और उत्कृष्टता के बीच हमेशा ही सीधा संबंध

'**मेरी क्रिसमस...**' के निर्देशक ओशिमा

हो यह ज़रूरी नहीं.

वान दर पोस्ट का '**द सीड एंड द सोअर**' भी क्लासिक्स के दर्जे का उपन्यास नहीं है लेकिन उस पर आधारित ओशिमा की फिल्म '**मेरी क्रिसमस मिस्टर लारेंस**' कई स्तरों पर उत्सुकता जगाती है... खासतौर पर महायुद्ध के दौरान एक जापानी बंदी शिविर में अंग्रेज कैदियों और जापानी अफसरों के बीच मानसिक और भौतिक द्वंद्वों को बहुत ही सशक्त फिल्मी जुबान दी गयी है. कथानक, संक्षेप में, इस प्रकार है—1942 में इंडोनेशिया में कहीं जापानियों का एक युद्धबंदी शिविर है. ब्रिटिश कैदियों के साथ लेफ्टिनेंट कर्नल जान लारेंस उस पाश्चात्य चरित्र का प्रतिनिधित्व करता लगता है जिसे जापानी मानसिकता न समझ पाती है, न स्वीकार ही कर पाती है. एक जापानी, बंदी बनाये जाने की अपेक्षा आत्महत्या... हाराकीरी... को ज्यादा श्रेयस्कर मानता है, इस बात को लारेंस तो समझता है, पर लारेंस की बात को जापानी मानसिकता नहीं समझ पाती कि विषम-से-विषम परिस्थितियों में भी जिंदा रह सकने की ताकत भी किस प्रकार एक दुर्द्धर्ष अविजित जिजीविषा का प्रतीक हो सकती है! विनाश की ताकत को समझ सकने वाले अक्सर विनाश के बावजूद जीते रह सकने की ताकत को नहीं देख पाते... और उस बंदी शिविर में अचानक ही एक दिन एक नये कैदी, ज्हाक सैलिअर्स, का आगमन इस ताकत को भरपूर जापानी कैप्टन के सामने रखता है और वह मानो सेलिअर्स की अदम्य जिजीविषा के सामने हिंसा के अपने सारे हथियारों को बेबस और शर्मिंदा पाता है. सेलिअर्स की शानदार मृत्यु के सामने घुटने टेकता हुआ कैप्टेन का दंभ फिल्मकार ओशिमा के इस संदेश को खूबसूरती से संप्रेषित करता है कि हिंसा की अपेक्षा साहस और मानवता में ज्यादा शक्ति है. एक दूसरे की हत्या करने के बजाय एक दूसरे को समझना ज्यादा जरूरी है, जैसा कि लारेंस, ब्रिटिश विजय के बाद, फांसी चढ़ाये जाने वाले जापानी कैप्टेन से कहता है, "हम सब उन लोगों की समझ का शिकार हैं जो अपने को कभी भी गलत नहीं मानते!" ओशिमा किसी का पक्ष नहीं लेते. योरुपीय कैदियों पर अत्याचार करने वाले जापानी विजेता भी उतने ही सही या गलत थे जितने बाद में जीत प्राप्त करने वाले अंग्रेज. फिल्म बनाते समय एक बातचीत के दौरान ओशिमा ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया था, "मैं समझता हूं युद्ध मनुष्य को राक्षस बना देता है, उसके अंदर का दानव उभर कर ऊपर आ जाता है. द्वितीय महायुद्ध में जापानियों का भी यही हाल था. मैं एक ऐसे ब्रिटिश सिपाही को दिखाना चाहता हूं जो उनकी ही तरह हो, उनके बराबर हो. यह मुझे आकृष्ट करता है. फिल्म में कई हिंसक प्रसंग हैं, पर फिल्म का विषय हिंसा नहीं है. आदमी के भीतर-भीतर जो होता है, वह मुख्य विषय है. ब्रिटिश सिपाही के अंदर जो देवता और दानव है तथा जो जापानी सिपाही के अंदर भी है, असली लड़ाई तो उनके बीच चलती है."

जाहिर है कि ओशिमा वान दर पोस्ट के उपन्यास का यथावत् फिल्मांकन नहीं कर रहे हैं, उस उपन्यास की कथावस्तु के द्वारा अपने एक दृष्टिकोण को भी सामने रख रहे हैं. उनके लिए प्राथमिक महत्व उपन्यास में चित्रित उस बुनियादी स्थिति में है जहां एक ब्रिटिश कैदी और जापानी विजेताओं की मानसिकताओं के बीच तीखा सामना होता है. अफ्रीकी उपन्यासकार वान दर पोस्ट 1927 में जापान चले गये थे. उनके पहले उपन्यास '**इन ए प्राविन्स**' (1934) का विषय भी रंग-भेद को लेकर नासमझियों पर है. द्वितीय महायुद्ध के

Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दौरान कर्नल वान दर पोस्ट ब्रिटिश फौज में रहे तथा एक छापामार दस्ते का नेतृत्व करते हुए जावा में 1944 में जापानियों द्वारा बंदी बनाये गये थे. उपन्यास में उनके इस समय के अनुभवों की अभिव्यक्ति है जिसकी झलक लारेंस के चरित्र में दिखाई देती है. मनोवैज्ञानिक विषमताओं तथा समय की रहस्यात्मकता को लेकर उपन्यास कुछ बोझिल हो जाता है, अपेक्षाकृत फिल्म अधिक स्पष्ट है... या यों भी कह सकते हैं कि ओशिमा ने उसे अधिक स्पष्ट व्याख्या देने की कोशिश की है.

दूसरी जापानी फिल्म शोही ईमामूरा की **'बैलेड ऑफ नारायामा'**, जो शोखी रो फुकाज़ावा के इसी नाम के उपन्यास पर आधारित है, फिल्मोत्सव '84 की चर्चित फिल्मों में से थी. उपन्यास का यह दूसरा फिल्मीकरण है. पहली फिल्म काबुकी शैली में 1958 में किनोशीता के निर्देशन में बनी थी. किनोशीता ने इस प्रसिद्ध जापानी कथा को समाज में स्त्रियों की दशा पर अपने विचार रखने के लिए चुना था. ईमामूरा की शैली जितनी यथार्थवादी है, कथानक का प्रभाव उतना ही प्रतीकात्मक है. किसी अज्ञात कालखंड में खोया एक छोटा-सा जापानी गांव है जहां न जाने कब से यह क्रूर प्रथा प्रचलित है कि किसी घर का कोई भी प्राणी जब सत्तर वर्ष पूरे कर लेता है तब उसे अपना घर-बार छोड़कर दूर नारायामा पहाड़ पर जाकर अकेले शेष जीवन बिताना पड़ता है. गांव की दैनिक जिंदगी के चित्रण मे ईमामूरा की दृष्टि अभद्र और हंसोड़ प्रसंगों को भी उतनी ही निर्भीकता से चित्रित करती है जितनी गहराई से जीवन के मार्मिक प्रसंगों को पकड़ती है. अंत में, पुत्र जब अपनी सत्तर वर्षीया मां को पीठ पर लादकर नारायामा पर्वत पर छोड़ने जाता है, फिल्म यथार्थ में बिना किसी झटके के प्रवेश कर जाती है, और हम जीवन तथा मृत्यु की अनिवार्यता को लगभग एक सौम्य विचार की तरह स्वीकार करते हैं....

उपन्यासों के फिल्मीकरण में शायद पश्चिम जर्मनी सबसे आगे रहा है. फिल्मोत्सव '84 में पश्चिम जर्मनी के प्रसिद्ध फिल्मकार फोकर श्लौंडार्फ की फिल्मों ने (जिनका बर्गमैन, वायदा और ओशिमा की फिल्मों के साथ ही एक वृहद् प्रदर्शन आयोजित था) विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया. श्लौंडार्फ का नाम इस समय पश्चिम जर्मनी के चार बड़े फिल्मकारों के साथ लिया जाता है—फासबाइंडर हरजोग, वेंडर्सा और श्लौडार्फ. अपनी फिल्मों के प्रदर्शन के सिलसिले में विशेष आमंत्रण पर भारत आये श्लौंडार्फ ने प्रेस के साथ एक लंबी बातचीत के दौरान फिल्म तथा उपन्यास के संबंधों पर अनेक महत्वपूर्ण बातें कहीं. यह उल्लेखनीय तथ्य है कि श्लौंडार्फ, जो अपनी संवेदनाओं को मूलतः साहित्यिक मानते हैं, अब तक, उपन्यासों पर आधारित सर्वाधिक फिल्में बना चुके हैं. यद्यपि उनकी शुरू की फिल्म **'यंग टोरलेस'** (जो 1906 में प्रकाशित राबर्ट मुसिल के उपन्यास पर आधारित है) 1966 में ही बन चुकी थी, पर फिल्म-जगत का ध्यान उनकी ओर गुंटर ग्रास के उपन्यास पर बनी फिल्म **'टिन ड्रम'** (1979) के बाद खासतौर पर गया. जैसा कि उन्होंने एक बातचीत में बताया, साधारण उपन्यासों की अपेक्षा वे आधुनिक क्लासिक्स को फिल्माना ज़्यादा पसंद करते हैं क्योंकि एक साहित्यिक कृति जब तक उनके लिए किसी प्रकार की चुनौती न हो वे उस कृति के साथ पूरी तरह लिप्त नहीं हो पाते. पढ़ने के शौकीन श्लौंडार्फ के लिए साहित्य हमेशा बहुत महत्व रखता रहा है. उनका यह कथन दिलचस्प था कि, "किसी उपन्यास पर फिल्म बनाते समय में एक 'वैंपायर' की तरह उसके सत्व को चूस कर अपनी फिल्म में भर देना चाहता हूं. मैं स्वयं लेखक नहीं हूं, पर अपने कैमरा को जरूर एक बड़े लेखक की संवेदनशीलता से इस्तेमाल करना चाहता हूं."

एक जगह उन्होंने 'नरभक्षी' शब्द का इस्तेमाल भी किया. 'मीडिया' और अपनी नयी फिल्म **'सर्किल ऑफ डिसीट'** के सिलसिले में. हम भयानक और सनसनीखेज खबरें पढ़ना पसंद करते हैं, उन्हें एक नरभक्षी की तरह चींथना हमें अच्छा लगता है—और 'मीडिया' हमारी इस भूख को न केवल संतुष्ट करता बल्कि बढ़ाता भी है: इसीलिए तटस्थ 'मीडिया' जैसी कोई चीज नहीं है, वह पूरी तरह 'युद्ध' और 'व्यवसाय' का हिस्सा है. गुंटरग्रास के सुझाव पर 1981 में बनी श्लौंडार्फ की फिल्म 'द फोर्जरी' (या 'द सर्किल आव डिसीट') निकोलस बार्न के उपन्यास पर आधारित है. इस फिल्म की पृष्ठभूमि युद्ध है तथा उसको लेकर श्लौंडार्फ ने कई महत्वपूर्ण राजनीतिक सवाल उठाये हैं. वैसे, श्लौंडार्फ की दृढ़ मान्यता है कि फिल्मकार के लिए राजनीति से ज़्यादा महत्व रखता है राजनीति में आदमी का आचरण और उसकी मानसिकता. शायद इसे भी एक तरह से श्लौंडार्फ की साहित्यिक चेतना का ही पक्ष माना जा सकता है, और उस समय भी जब वे मूलभूत राजीतिक प्रश्नों से उलझ रहे होते हैं उनकी पैनी निगाह आदमी की बुनियादी प्रकृति और बाहरी आचरण की गुत्थियों पर से नहीं हटती. उनकी यह महत्वपूर्ण टिप्पणी याद आती है कि "हम दूसरों के बारे में भयानक खबरें पढ़ना पसंद करते हैं क्योंकि उससे हमारे अपने जीवन की भयानकता कम मालूम पड़ने लगती है...."

गुंटर ग्रास के **'टिन ड्रम'** पर बनी

शीघ्र प्रकाश्य

कोयल तोर बोलिया बैरन भई!

फागुन की फौहार की बीच अपने प्रत्येक पाठक के लिए एक-एक टीका गुलाल सहित, प्रख्यात व्यंग्यकारों की रचनाओं के जरिए जिंदगी को जिंदादिली से समझाने का उल्लास जगाता—

व्यंग्य-कथा विशेषांक

16 मार्च, 1984

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्लौंडार्फ की फिल्म कई तरह के सवाल मन में उठाती है. फिल्म यद्यपि स्वयं लेखक के सहयोग से बनी है, और इसमें संदेह नहीं कि अपने ढंग की एक अनूठी कृति है, लेकिन कहां तक वह उपन्यास के अनुभव को—या उससे वृहत्तर अनुभव को—हम तक संप्रेषित करने में सफल हो पाती है यह संदिग्ध रहता है. मैं समझता हूं 'घटना-प्रधान' या 'चरित्र-प्रधान' उपन्यासों का फिल्मीकरण किसी हद तक आसान होता है, लेकिन ऐसे उपन्यास जो भाषा-प्रधान, शैली-प्रधान या विचार-प्रधान हों उनका फिल्मीकरण मुश्किल होता है. गुंटर ग्रास का **'टिन ड्रम'** उसी प्रकार का विशिष्ट भाषायी अनुभव भी है जैसे काफ्का का **'द ट्रायल'** या नबाकोव का **'लोलिता'**. ऐसा नहीं कि इन सभी फिल्मों में सशक्त चरित्र और घटनाएं भी नहीं हैं, लेकिन एक फिल्म में अगर चरित्र और घटनाएं ही ज्यादा उभरें, भाषायी विशिष्टता नहीं, तो मानना जायज लगता है कि साहित्य का यह भाषा-पक्ष ही ऐसा है जिसे या तो फिल्मों में बिंबों की भाषा पकड़ नहीं पाती या फिर बिंब उसे ढक लेते हैं. इसी समारोह में दिखाई गई प्रसिद्ध फिल्मकार क्रिसतोफ यानुसी की फिल्म **'इमपरेटिव'** याद आती है... ईश्वर और यथार्थ के बारे में नायक आगस्तीन की चिंताएं इतने विशिष्ट अर्थों में 'किताबी' रहती हैं कि फिल्म माध्यम को लगभग खारिज करती सी लगती है.

श्रेष्ठ साहित्य या क्लासिकल उपन्यासों को लेकर सफल फिल्मीकरण के बारे में हमेशा चिंताएं व्यक्त की जाती रही हैं. फिल्मी बिंब या चित्रण हमेशा 'शब्द' की सांकेतिकता को स्थूल में परिवर्तित कर देते हैं. शब्दों की अठोस ऊर्जा बिंबों में सिमटते ही सीमित हो जाती है. जर्मन उपन्यासकार थामसन मन्न का हमेशा यही रुख रहा कि एक महान साहित्यिक कृति का उतना ही सफल फिल्मीकरण नहीं हो सकता. यह आज थोड़ा विडंबनापूर्ण भी लगता है कि जर्मनी में स्वयं मन्न के दोनों उपन्यास **'डाक्टर फाउस्टस'** और **'मैजिक माउंटेन'** के फिल्मीकरण की कोशिश बहुत सफल नहीं रही. शब्दों की प्रकृति को ही ध्यान में रखते हुए प्रसिद्ध फ्रेंच फिल्म समीक्षक क्रिश्चियन मेट्ज ने सावधान किया था कि शाब्दिक कला और फिल्मी कला के बीच समानता ढूंढने की कोशिश को बहुत दूर तक नहीं खींचा जाना चाहिए. फिल्म **'टिन ड्रम'** भी यद्यपि इस माने में स्वयं एक क्लासिक है कि वह उपन्यास के बुनियादी प्रभाव को पूरी ईमानदारी से हम तक संप्रेषित कर पाती है, लेकिन क्या वह गुंटर ग्रास की भाषायी वर्णन शक्ति और शैली का भी वैसा आभास करा पाती है जो उपन्यास की मूल शक्ति है? बौने नायक आयस्कर का चरित्र तथा उसकी पेचीदा समझ के माध्यम से देखे जा रहे द्वितीय महायुद्ध के दौरान के विसंगत जर्मन-समाज को ग्रास की जटिल शैली जिस तरह उलझाती सुलझाती आगे बढ़ती है, क्या फिल्म का शिल्प उस स्तर पर भी कामयाब रह सका है? ग्रास की शैली में जो रैबले, बोकाचिओं और बालजाक के क्लासिक्स की मिलीजुली यादें हैं, वे फिल्म के तानेबाने में सुरक्षित नहीं रह पातीं, जबकि भाषा की बनावट में ग्रास उन्हें कुशलता से पिरोये रखते हैं. दुनिया को एक बौने की निगाह से देखने, और दुनिया को एक बौनी निगाह से देखना—ग्रास की शैली इन दोनों स्तरों पर उनके वर्णनों को लपेटती चलती है. **'टिन ड्रम'** पर फिल्म बनाना वैसे भी हिम्मत का काम था, क्योंकि उपन्यास केवल भाषायी दृष्टि ही से नहीं बनावट में भी जटिल है. उपन्यास के फिल्मी रूपांतरण में भी जटिल है. उपन्यास के फिल्मी रूपांतरण में थोड़ी भाषायी क्षति होना तो अनिवार्य था, फिर भी अनेक महत्वपूर्ण प्रसंगों, पात्रों और जगहों के बहुत ही सावधान और सटीक चुनाव में उपन्यास के चुहल भरे मिजाज की पूरी तरह रक्षा हुई है. इस अर्थ में फिल्म ने उपन्यास के वातावरण को बहुत नजदीक से पकड़ा है.

'छोटे बजट की फिल्म है' अगर यह फिजूल के कपड़े हटा दिए जाते तो कुछ बचत ही हो जाती।'

'टिन ड्रम' की संरचना में एक अलग तरह की प्रबंधात्मकता है जो उसकी साहित्यिक जड़ों की याद दिलाती है, और जो उसे लगभग उसी तरह के विषयों पर बनी फिल्मों (जैसे इसी समारोह में दिखाई गयी इंगमर बर्गमान की **'फैनी एंड अलेक्जांडर'**) से थोड़ा अलग करती है. सामान्य उपन्यासों की अपेक्षा एक सशक्त साहित्यिक रचना अपनी बनावट की ज्यादा गहरी छाप एक फिल्म पर छोड़ती है—ज्यादातर अच्छे अर्थों में, यद्यपि कभी-कभी संकुचित अर्थों में भी. उपन्यासों पर बनी जिन फिल्मों की मैंने यहां चर्चा की है वे फिल्मोत्सव '84 की उत्कृष्ट फिल्मों में मानी गयी हैं, और दूसरी तरह की अच्छी-से-अच्छी फिल्मों की बराबरी में उनकी ऊंची जगह फिल्मों में साहित्य के महत्व को दूर तक सिद्ध करती है. साथ ही, साहित्य और सिनेमा के व्यापक संबंधों को सोचते वक्त इस ओर भी बार-बार ध्यान जाता था कि जिस तरह कभी छापे की टेकनोलॉजी का कथा-साहित्य पर जो असर पड़ा उसने उपन्यास का विकास संभव बनाया, आज फिल्म, टी.वी., वीडीओ आदि की टेकनोलॉजी स्वयं उपन्यास की विधा में किस प्रकार का वापसी परिवर्तन ला रही है, या ला सकती है? इस सदी के अनेक ऐसे उपन्यासों की ओर ध्यान जाता है जिनके शिल्प या तकनीक को काफी हद तक 'सिनेमेटिक' कहा जा सकता है. इस माने में साहित्य और सिनेमा के संबंधों को एकतरफा न मानकर आपसी मानना मुझे ज़्यादा ठीक लगता है, तथा दोनों के लिए ज़्यादा संभावनापूर्ण भी. □

विष्णु कुटी, सी 4, सैक्टर 'बी' महानगर, लखनऊ-226006

Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब से कौंसिल के मेंबर पिताजी हुए वक्त जाता रहा दरबार में

कुड़क धम...कुड़क धम... की आवाज के साथ नौटंकी का पात्र मंच पर घूमना शुरू कर देता है. कमोबेश यही हालत हमारे संस्कृति और कला की है. सरकारी दखलंदाजी, सत्ता-मुखी प्रवृत्ति और दरबार का चक्कर. यह बात दीगर है कि यह सब जो कुछ हुआ और या होता चला आ रहा है, इसके पीछे सुविधा और सहूलियत की कोई मंशा रही हो, दरअसल यह मज़बूरी की देन है. सूत्रधार अपनी बात को और भी तार्किक बनाने के लिए आपको पीछे ले जाता है. जब अंग्रेजी सरकार हाय-हाय किट-किट से उबर कर देश में इत्मिनान की सरकार स्थापित कर चुकी थी और सहूलियत को ऐयाशी से भोग रही थी उन्हीं दिनों भारतीय परंपरा की विधाओं का ह्रास शुरू हुआ. कला और संस्कृति उनकी (पाश्चात्य) मांग के आधार पर परिवर्तित होने लगी. कला में विदेशी रंगों के साथ-साथ 'अमूर्त रूप' की शुरुआत हुई. अंग्रेज के ड्रांइगरूम में लटकने के लिए जरूरी हो गया कि भारतीय परंपरा को छोड़कर पाश्चात्य 'दादावाद' के विभिन्न रूपों को बगैर किसी समझदारी के सार्त्र के 'निराशा' को केंद्र बिंदु मान लिया गया और रचनाकार जमीन से उठकर 'छत' पर बैठकर लिखने लगा. संगीत में आप, जाज़, पॉप का प्रकोप बढ़ा और नृत्य में बैले ने घर कर लिया. सेक्शपीयर व्यापार की तरह रंगमंच पर चढ़ गये और पूरा मुल्क देखते-देखते जहनियत से विदेशी हो गया (मुकम्मिल नहीं) क्योंकि कला और संस्कृति में लगे लोगों की समझ में यह बात स्पष्ट हो गयी कि तात्कालिक रूप से अपने को प्रतिष्ठित करना है तो सत्ता के सामने लपर-लपर करना ही पड़ेगा.

लेकिन सूत्रधार कतई अलहदा बात करता है कि विकास हवाई नहीं जमीन का होता है. उस पर चलना पड़ता है. मेहनत और मसक्कत का काम है... लेकिन हुआ क्या. आजादी के बाद जो सत्ता आयी वह अपने साथ वही सारे करतब ले तो आयी जो अंग्रेजी के थे. कला और संस्कृति के पुराने कारीगर नयी सत्ता में भी प्रतिष्ठित होने लगे. यह क्रम अभी जारी ही था कि अचानक सत्ता को यह याद आया कि चूंकि हम देशी हैं तो 'जो कुछ होवै भैये कम से कम उसे देशी कहने का तर्क तो मिले' और इस आधार पर यह तय किया जाने लगा कि 'फोक', 'नौटंकी', 'तमाशा', 'जात्रा', 'लावणी', 'भड़ैती', 'छत्तीसगढ़ी', 'भोपाली', 'कलकतिया', 'यक्षगान' जरूरी नहीं कि इनका पूरा बिंब, रूप, भाषा, प्रस्तुति अपनी पूर्णता के साथ आवे. कुछ भी मिल जाय, 'दो स्टेप', एक तर्ज, फोक भाषा. कुछ न कुछ होना चाहिए. फिर तो क्या माया भगवना की, पैसा दुकान का. अकादमी का अनुदान हाजिर है. संस्कृति मंत्रालय की थैली खुली है. दिल्ली में न तो ऐसे कारीगरों की कमी है न वे इसमें कोताही करते हैं. अगर वे 'हिटलर' के नाम पर विदेशी घरानों से पैसा निकाल सकते हैं, चेखव और गोर्की के कथानक पर रूस-हिंद मैत्री कर सकते हैं या शेक्शप्रीयर नाम की चिट ब्रिटिश कौंशिल तक बढ़ा कर अपने हितों के लिए हिफाजत खोज सकते हैं तो 'फोक' के नाम अकादमी को समझाना कितना आसान है. तुर्रा तो यह है कि इन 'देशी' और 'फोक' के प्रचार में लगी तमाम संस्थाओं को अपने देश की एक भी भाषा नहीं आती. मैकाले की स्याही सोख शिक्षा न रहे तो इनकी खत-ओ-कितावत ही बंद हो जाये. इन्हें 'लोक' की चिंता सताये जा रही है और रंगकर्मी...?

और सच पूछिए तो, यह सूत्रधार जिसने अब तक अपने बारे में (रंगमंच) कुछ नहीं बोला था बोलना चाह रहा है. लेकिन एक सपाट बयानी तो होनी चाहिए. रंगमंच को बढ़ाना है तो उसका पोस्टमार्टम भी तो होना चाहिए. एक सवाल है जो चौतरफ उठ रहा है—

रंगमंच में नया कुछ क्यों नहीं हो रहा है?

श्रीमती शांतागांधी चेयरमैन हैं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की.

क्यों?

क्योंकि पिछले 21 साल से जस्मा ओड़न कर रही हैं.

आगे क्यों नहीं?

क्योंकि 'जस्मा' के अलावा कुछ नया न तो लिखा गया है न संभावना ही है.

'तुगलक' फिर हो रहा है.

विजय तेंदुलकर वांट्स राजिंदर-नाथ एंड राजिंदर नाथ वॉट्स जहीर, सुभाष, वीणा मेहता...

क्यों? आगे क्यों नहीं?

क्योंकि राजिंदर को रंगमंच में जोखिम नहीं लेना है.

हटा दीजिए तेंदुलकर को और जहीर को. तो क्या राजिंदर नाथ रह जायेंगे रंगमंच के? मीता की कहानी देख लीजिए. गुस्सा मत करिए. एतराज हो तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादक को चिट्ठी लिख कर गरियायें लेकिन निर्गुण गुस्सा कोई मायने नहीं रखता.

रंगमंच को आगे ले चलना है तो एम. के. रैना, रंजीत कपूर, अंकुर, दीपासाही, अमाल अलाना, अब इनके तेवर, इनकी जहनियत, इनकी दीवानगी से चलना होगा. रचना के सवाल पर, कथानक और नाटक के सवाल पर. हिंदी में नाटक नहीं है यह बोलते हुए रंगकर्मी ऐसे लगता है जैसे मैदान मार लिया हो. तो सूत्रधार उनसे पूछता है, प्रापर्टी की तलाश में किनारी बाजार, चावड़ी बाजार घूमना, सेट लगाने के लिए लकड़ी से लेकर मिट्टी तक कंधे पर लेकर चलना अगर नाटक के लिए जरूरी है और शर्म नहीं आती तो क्या वजह है कि रंगकर्मी हिंदुस्तानी भाषा में साहित्य लिखने वाले लोगों को नहीं पकड़ते? क्यों नहीं उनके साथ बैठकर स्क्रिप्ट लिखते? □

मैं राम गोपाल बजाज बोल रहा हूं

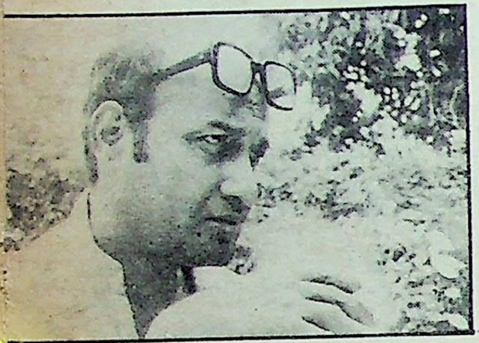

बज्जू भाई! रैना का एक बयान है कि रंगमंच पिछले दस साल से वहीं कदमताल कर रहा है. एक चक्र में घूम रहा है?

ठीक कहा है. लेकिन एक चक्र तो पूरा किया. एक प्रक्रिया से तो गुजरना पड़ा है न? मुझे मालूम नहीं कि रैना ने किस बिना पर यह कहा है...

थियेटर के फार्म से लेकर विषय तक.

यहां थोड़ा मतभेद हो सकता है. या यूं भी कह सकते हैं कि है! क्योंकि कोई भी चक्र पूरा होता है, ये उसे उसी रूप में कह सकते हैं कि जैसा दस साल पहले था वैसा ही है. जैसे म्यूजिकल, रियलिस्टिक, ट्रेडिसनल, सांस्कृतिक, नाटक पर गये फिर परंपरागत ढंग से गुजरते हुए सड़क तक गये. जब भी कभी भेद होता है गुणात्मक फर्क का. मेरा खयाल है रैना ने जो इशारा किया है वह फोक और ट्रेडिसनल के एक्सपर्ट थियेटर की तरफ कहा होगा. मैं इसे गलत नहीं कहता.

एक मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन ... मूल हिंदी नाटक होते हुए भी रूप की दृष्टि से, विधा की दृष्टि से शुद्ध पश्चिमी नाटक है.

भारती का 'अंधा युग'?

स्ट्रक्चर वगैरह की खामियों के बावजूद वही एक ऐसा नाटक है जो इस सदी का अकेला नाटक है.

किस दृष्टि से?

रूप, भाषा, बिंब, सोच, विषय, उसे हिंदुस्तानी कह लीजिए, या यूनिवर्सल... लेकिन इसी के साथ-साथ मेरा एक और वक्तव्य है, इसे जिस रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए, वह अभी तक संभव नहीं हो पाया है. इसका मतलब यह नहीं कि मैं ही पूर्णता से कर पाऊंगा, लेकिन मेरा सवाल यह है कि 'अंधा युग' में कथा नायक है वह जो सूत्रधार है. मुख्यपात्र है लेकिन आज तक जो प्रस्तुतियां हुई हैं उनमें वह पात्रों से और दर्शक से दूर रखा गया है.

इसे अलकाजी साहब ने किया था. क्या वे जानबूझ कर या....

शायद उन्होंने इधर ध्यान ही न दिया हो. और शायद मेरे भी दिमाग में यह बात न आती अगर मैं उन प्रस्तुतियों में सीधे भाग न लेता... चूंकि मैं उस प्रक्रिया से गुजरा हूं इसलिए... लेकिन मेरा कोई आक्षेप (अलकाजी पर) नहीं है.

फिर...?

देखिये, अलकाजी साहब जिस परंपरा के रहे हैं, वह शेक्शपीरियन परंपरा के हैं. लेकिन जब वे भारतीय परंपरा में आये हैं तो उसके मूल तत्व को शायद... वर्ना अलकाजी जैसा निर्देशक इसे कैसे छोड़ सकता था...

इसका मतलब यह हुआ कि अलकाजी साहब भारतीय परंपरा से जुड़ नहीं पाये...?

देखिये न! अब आप बात को दूसरी तरफ ले जा रहे हैं. हम लोग 'अंधा युग' पर बातचीत कर रहे थे उधर ही कनसन्ट्रेट करें तो...

नहीं मेरा दूसरा सवाल है, अलकाजी साहब भारतीय परंपरा में जुड़ पाये कि नहीं...

नहीं. अब देखिए... यह दूसरा सवाल हो गया न... हम लोग 'अंधा युग'...

तुगलक...?

तुगलक बिल्कुल शेक्शपीरियन नाटक है. जबकि आषाढ़ का एक दिन इब्सेनियन है और अंधा युग में भारतीय परंपरा और ग्रीक परंपरा का रूप है. और सामयिक है. लोक रूपों के विकास और उससे जुड़ने और प्रस्तुत करने की स्थितियां भिन्न हो जाती हैं, ठीक उसी तरह जैसे विदेशी नाटक विदेशों में ले जाकर प्रस्तुत करना. वो क्यों देखेंगे. ठीक उसी तरह लोक रूपों की प्रस्तुतियां हैं.

यहां दो नाम हैं. हबीब तनवीर और कारंथ जी का.

कोई तुलना ही नहीं. हबीब तनवीर की जो सोच है वह लोकसत्ता में है.

और कारंथ साहब?

, संभानाएं हैं !

'बरनम बन' नाटक पश्चिमी है प्रस्तुति देशी रूप में है.

एक चत्मकार था. लेकिन षड्यंत्र भी है. षड्यंत्र इसलिए कि कारंथ साहब भारतीय परंपरा से जुड़े हुए नाटककार हैं. लेकिन जब वे देशी रूप को आयातित प्रस्तुति के साथ जोड़ते हैं तो वह बात नहीं बनती. जहां तक इस रूप के लिए ऐतिहासिक नाटक की बात है तो वह तो समूचे भारतीय साहित्य में भरे पड़े हैं. महाभारत का कोई भी हिस्सा ले लीजिए. लेकिन नहीं है. क्या किया जाय? □

Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐतिहासिक संदर्भ में हिंदी कहानी का एक जायजा

■ डा. जगमोहन चोपड़ा

कालजयी कथाकृति और अन्य निबंध शीर्षक पुस्तक पिछले पंद्रह वर्षों में लिखे गये दस समीक्षात्मक निबंधों का संग्रह है जो स्वतंत्र समीक्षा पद्धति का आभास देतें हैं. यह पुस्तक जहां प्राध्यापकीय समीक्षा पद्धति की गिरफ्त से मुक्त है वहीं प्रायः स्वतंत्र समीक्षा पद्धति के कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे भी उठाती है.

इस पुस्तक में कहानी पर पिछले पंद्रह वर्षों में लिखे गये दस निबंधों की सामयिक समीक्षा के विश्लेषण का प्रयास किया गया है. यह विश्लेषण पद्धति कैसी है, इस विश्लेषण के बारे में क्या कुछ छूट गया है, क्या कुछ लेना चाहिए था, उसके बारे में समीक्षक का कथन ध्यान देने योग्य है—**'यह पुस्तक न तो हिंदी कहानी का इतिहास है, और न ही कहानी मात्र का व्यवस्थित अध्ययन. वस्तुतः यह पुस्तक मेरे कहानी संबंधी दस निबंधों का संग्रह है. ये निबंध विगत पंद्रह वर्षों के दौरान समय-समय पर लिखे गये हैं. इसलिए इनमें कहीं-कहीं ऐसे सामयिक संदर्भ मिलेंगे जो इनके कुछ अंशों को कालबद्ध करते हैं. ...पाठक यदि इन अंशों को अनदेखा कर देंगे तो उन्हें सुविधा रहेगी और इन निबंधों के साथ न्याय हो सकेगा. इसमें कुछ ऐसी चीजें भी मिलेंगी जो कुछ लोगों को चुभेंगी. ये चीजें भी इन निबंधों का अनिवार्य अंग हैं. इन निबंधों में कुछ ऐसी धारणाएं व्यक्त हुई हैं जिनसे आज मैं सहमत नहीं हूं. उदाहरण के लिए सचेतन कहानी के संबंध में मुद्राराक्षस के कथन से अब मैं सहमत नहीं हूं....'** कहना ही होग कि प्रस्तुत समीक्षा पद्धति जहां विधिगत सैद्धांतिकता की कोई बात नहीं करती वहीं पर व्यक्तिगत (एकतरफा) और पक्षधरता को स्वीकार करती हुई सचेतन कहानी आंदोलन को अस्वीकार भी करती है.

सामयिक संदर्भों में इन्होंने सबसे पहले कालजयी कथाकृति की परिभाषा देते हुए उसके तत्वों को गिनाया है. कालजयी से उनका अभिप्राय काल को जीतने वाली रचना है जो समय के साथ-साथ जहां सार्वभौमिक बन जाती है वहां क्लासिक्स की श्रेणी में भी आ जाती है. यह रचना सृजनात्मक शक्ति के साथ-साथ प्रासंगिकता, घटनात्मकता को सबसे महत्व देने वाली, भावनात्मक सघनता, समकालीन जीवन के स्थूल यथार्थ से जुड़ी हुई, देशकाल की सीमाएं तोड़ने वाली, स्वतंत्र व्यक्तित्व वाली, पाठक को बार-बार आकर्षित करने वाली, आलोचक को चुनौति देने वाली, नये मुद्दे उठाने वाली और बार-बार पढ़ी जाने वाली होती है.

इसी के साथ-साथ इन्होंने **'हिंदी कहानी के विविध आयाम'** शीर्षक लेख में हिंदी के इतिहास में प्रमुख कहानीकारों की चर्चा की है. आचार्य रामचंद्र शुक्ल की कहानी को हिंदी की प्रथम मौलिक कहानी स्वीकार करते हुए इन्होंने किशोरी लाल गोस्वामी, बंग महिला, प्रसाद, प्रेमचंद, जैनेंद्र, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, रेणु, दूधनाथ सिंह की महत्वपूर्ण प्रतिनिधि कहानियां गिनवायी हैं. और कहानी के विषय, कथ्य और शिल्प में परिवर्तन के अंतर को स्पष्ट किया है. इनके अनुसार कहानी वस्तुवाद से प्रारंभ होकर निरंतर आत्मचेतन होती गयी है. बीसवीं शताब्दी तक पहुंचते-पहुंचते कहानी मध्यवर्ग और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को तीव्रता से स्थापित करने से प्रायः एकालाप का शिकार भी हुई है.

''नयी कहानी परिभाषा एवं प्रवृत्ति' शीर्षक इनका निबंध, मोहन राकेश, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, मार्कंडेय, लक्ष्मीनारायण लाल, भैरवप्रसाद गुप्त, धनंजय वर्मा तथा रमेश बक्षी की परिभाषाओं द्वारा नयी कहानी को आंकता है. उनके अनुसार नयी कहानी नये मनुष्य का चित्रण करती है. नया मनुष्य आज का नंगा मनुष्य है जो सर्वगुण संपन्न नायक नहीं है. उन्होंने अपने मत के स्पष्टीकरण के लिए बतलाया है कि किस प्रकार डार्विन, मार्क्स, फ्रायड, सार्त्र ने नये इंसान की चीड़-फाड़ कर उसे आहार, निद्रा, भय, मैथुनयुक्त सामान्य जीव बना दिया है. परिणामतः कहानी में यही विशिष्ट व्यक्ति आने लगा. भावुकता का स्थान बौद्धिकता के लेने से नयी कहानी जहां नीरस और दुरूह हुई, वहीं इसकी साहित्यिक प्रतिष्ठा भी बढ़ी.

इसके पश्चात् वह 'नयी कहानी मध्य-वर्गीय संदर्भ' शीर्षक लेख में मध्यवर्ग द्वारा मध्यवर्ग के चित्रण का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि यह कहानी प्रेम, रोमांस और अर्थ को लेकर चली. उद्योग और शहरी समस्याओं ने इसमें से प्रेम और श्रृंगार को मार दिया और कहानी केवल सैक्स तक सीमित रहने से ऊबाऊ और नीरस हो गयी. रघुवीर सहाय, मुद्राराक्षस, कृष्ण बलदेव वैद, महेंद्र भल्ला, कृष्णा सोबती, राजकमल चौधरी, जगदीश चतुर्वेदी आदि कहानीकारों ने सैक्स के आवरणहीन रूप को ही उजागर किया. उनके अनुसार नयी कहानी व्यापक संसार का चित्रण नहीं कर पा रही है. उनका मत है कि मध्यवर्ग में केवल सैक्स ही नहीं है और भी बहुत कुछ है.

इसके पश्चात् समकालीन हिंदी कहानी में सृजनाविरोध की बात करते हैं. विभिन्न आंदोलनों में कहानी की दशा और दिशा निर्धारित करते हुए वे निष्कर्ष देते हैं कि पिछले बीस वर्षों में हिंदी कहानी की प्रचारात्मक प्रवृत्ति के कारण सृजनात्मक क्षमता का शिकार हुई. अंत में वह निष्कर्ष देते हैं कि इसे परिस्थितियों से ऊपर उठना चाहिए और गतिशील होना चाहिए.

डा. हरदयाल यह मानते हैं कि समकालीन कहानी नयी पीढ़ी के जमाने और पुरानी पीढ़ी के उखड़ने के द्वंद्व में आंदोलनों का शिकार हुई. इसकी वजह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह उन आलोचकों को मानते हैं जो नये लेखकों का नाम लेना पाप समझते हैं. उनके अनुसार समकालीन कहानी में विरोध का स्तर 'व्यंग्य' के आधार पर जरूर उभरा पर मध्यवर्गीय मानसिकता के कारण वह अधिक मुखरित नहीं हो पाया. यहीं वह कहानी में परिवेशगत संदर्भ की बात करते हैं और पूंजीवादी व्यवस्था को दोष देते हैं जिन्होंने मध्यवर्ग को जन्म दिया. इसी प्रकार वह कथ्य, पात्रों, भावना, दृष्टि, विजन की बात करते हुए समकालीन कहानी का जायजा लेने का प्रयत्न करते हैं.

रवींद्र कालिया, निर्मल वर्मा, असगर वजाहत, मृदुला गर्ग और सुरेंद्र अरोड़ा की कहानियों का संकेत देते हुए वह कहानी में एकदम नये उभरते दृष्टिकोण का भी जायजा लेते हैं और निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि **समकालीन हिंदी कहानी का विश्लेषण हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि हम एक जीवन पद्धति में से निकलकर दूसरी जीवन पद्धति में प्रवेश कर रहे हैं. इस संक्रमण की स्थिति में हम द्वंद्वग्रस्त हैं. यही द्वंद्वग्रस्तता विविध रूपों में समसामयिक हिंदी कहानी में व्यक्त हुई है.** □

कालजयी कथाकृति और अन्य निबंधः डा. हरदयालः सरस्वती प्रेस, 2/23 अन्सारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-2 मूल्य : तीस रुपया

जीवन संघर्ष की जीवंत गाथा

■ डा. रामगोपाल शर्मा : 'दिनेश'

चित्रा मुद्गल की कहानियां मात्र कथा नहीं हैं, उनके भीतर मर्म-स्पर्शिनी संवेदनाओं की गहरी अंर्तधारा मिलती है और उससे जुड़ी होती है त्रिकालभेदी सूक्ष्म जीवन-दृष्टि. आजकल अनेक प्रतिष्ठित कहानीकार भी मात्र घटनाएं प्रस्तुत करने के लिए भाषा की घुमावदार पगडंडियां रचते हैं, किंतु वे संवेदना की अछूती सतहों को छूकर किसी दृष्टि विशेष से पाठक को नहीं जोड़ पाते. लोकप्रियता की दौड़ में सस्ते यौन-संबंधों तक उनका रचना-संसार सीमित रह जाता है. 'पाली का आदमी' उन कहानीकारों को सही दिशा दिखाने वाली कहानी है. यही स्थिति 'लाक्षागृह' संग्रह की अन्य कहानियों की भी है, जिनमें आधुनिक शहरी जीवन की विवशताओं और विकृतियों का सोद्देश्य चित्रण मिलता है. अतः ये कहानियां आधुनिक जीवन-बोध के स्तर पर केवल विडंबनाओं से ही पाठक को ही नहीं जोड़तीं, बल्कि संवेदना के स्तर पर उसकी वैचारिक जड़ता को भी तोड़ती हैं. मानवीय अनुभूतियों का ऐसा जीवंत दस्तावेज बहुत कम कहानीकार प्रस्तुत कर सके हैं.

चित्राजी की कथा-दृष्टि बहुत पैनी और सार्थक होती है. स्कूल जाते बालक से लेकर चौकीदार, मोची, क्लर्क, आफीसर, छोटे-बड़े, धनी-गरीब—सभी उस दृष्टि के वृत्त में अपने रहस्य खोलते हैं. समाज के संश्लिष्ट जीवन-संघर्ष की जीवंत गाथा और उसके अनुकूल कलात्मक भाषा, जो सहज अभिव्यक्ति का ठोस प्रभाव भी है, 'मामला आगे बढ़ेगा अभी' से 'अग्निरेखा' तक बराबर ऊंचाइयों पर दृष्टव्य है. इस संग्रह की कहानियों में गांव से नगर तक फैले समसामयिक जीवन की विसंगतियां और समस्याएं भाव और विचार के समन्वित आधार पर सिमटी हुई हैं. विचित्र बात तो यह है कि इन कहानियों में रस-बोध का अत्यंत उच्च धरातल भी है, जिसके कारण केवल मनोरंजन तक या शुष्क वाद-विमर्श के मोड़ तक ही पाठक नहीं छूट जाता, बल्कि वह कहानी के पात्रों के साथ आत्मीयता की ऊंचाई से भी बंधता जाता है. और, यह चित्रा मुद्गल के कथा-शिल्प की एक ऐतिहासिक उपलब्धि मानी जा सकती है. □

■ लाक्षागृह : चित्रा मुद्गल, प्रकाशक-पराग प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली मूल्य : १५ रुपये

जटिल मानसिक बनावट का दस्तावेज

■ विवेकीराय

कथाकार हरिकृष्ण कौल की कथामुद्रा में व्यंग्य-विनोद की प्रधानता है. रचनाओं में अनुरंजन का आग्रह इतना जबरदस्त है कि कहीं-कहीं समस्या और मुख्य व्यंग्य के ऊपर वही छा जाता है. कुछ रचनाओं में कुछ अनर्थ भी हो जाता है. जैसे, **'एक नंगी कहानी'** में हास्य बनते-बनते करुण बन गया है. कहानियों में शिल्प की ताजगी, पृष्ठभूमि का आंचलिक रंग, भंगिमा की मौलिकता और वस्तु में तीखे व्यंग्य की स्थितियां—कुल मिलाकर उत्कृष्ट कहानी का वातावरण बन जाता है.

पुस्तक की शीर्षक कथा **अरथी** एक रनिंग कमेंट्री है जो प्रेम, नेतागिरी और आवारागर्दी के इर्द-गिर्द चलती है. श्मशान वैराग्य सहमकर आते-आते भी छिटक जाता है और बहुत मौज के साथ चलती हुई अरथी के इर्द-गिर्द कौल साहब आज के आदमी की जटिल मानसिक बनावट का दस्तावेज तैयार करते चलते हैं. कहानियों में पृष्ठभूमि का वैविध्य कथाकार के जीवनानुभवों की समृद्धि का द्योतक है. कहीं कालेज का समस्यात्मक एब्सर्ड है, (**वह दिन**) तो कहीं बालकोचित भोले संदर्भों का उछाल है. **टोपी** शीर्षक कहानी वास्तव में लोककथात्मक शिल्प के निकट पहुंच गयी है. **चोर** में सीधे व्यवस्था पर व्यंग्य है. किस्सागोई और बयानबाजी का सहारा लेते हुए रचना में सीधे पाठकों को साझीदार बनाने में कथाकार को सफलता मिलती है और बीते समय की एक मजेदार रिपोर्ताज अंत तक भरपूर रूप में दिलचस्प बनी रहती है. निस्संदेह कहानी के नये-नये स्वादों के भीतर से आधुनिक पाठकों को गुजार देने के कारण हरिकृष्ण कौल का आलोच्य संग्रह हिंदी जगत में आदर पायेगा. □

अरथीः हरिकृष्ण कौल, प्रकाशकः पराग प्रकाशन, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली, मूल्यः सोलह रुपये

Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित
सस्ती, सुंदर और ज्ञानवर्धक पुस्तकें

1.	आंध्र प्रदेश—लोक संस्कृति और साहित्य	वी. राम राजा	10.50
2.	हिमाचल प्रदेश—लोक संस्कृति और साहित्य	गोतम शर्मा "व्यथित"	13.50
3.	आधुनिक एशियाई कहानियां	अनु. वी. एन. गोपाल	9.75
4.	सोरठ तेरा बहता पानी	झबेर चंद मेधाणी	6.25
5.	पूर्ण कुंभ	रानी चंद	11.25
6.	सेतु	द्विवेंदल विशालाक्षी	6.00
7.	आखिर जो बचा	बुच्ची बाबू	8.50
8.	पुदुमैपित्तन की कहानियां	एम. पी. सोमसुंदरम	6.75
9.	किनो ग्वाले की गली	एस. के. घोष	8.25
10.	नवन्न	बिजन भट्टाचार्य	7.25
11.	वनहंसी श्वेतपद्मा	मनोरंजन दास एवं प्राणबंधु कर	8.00
12.	पुराना लखनऊ	अब्दुल हलीम "शरर"	16.25
13.	पंजाबी एकांकी	अतर सिंह	8.00
14.	सुदामा के चावल	श्रीपाद कृष्ण कोल्हाटकर	1200
15.	गंगव्वा गंगामाई	शंकर मोकाशी पुणेकर	9.50
16.	कदूकरि वीरेशलिंगमु	कोडवीटगंटि कुटुंबराव	6.50
17.	काम की प्रशंसा में	स. आ. सप्रे	6.50
18.	एशियाई खेलों की कहानी	नरोत्तम पुरी	6.50
19.	स्वतंत्रता संग्राम	विपिनचंद्र, अमलेश त्रिपाठी तथा वरुण दे	11.50
20.	हम और हमारा स्वास्थ्य	वी. एन. भावे तथा अन्य	21.75
21.	आओ खेलें खेल	सं. ओपल डन	12.00
22.	तेरह अनुपम कहानियां	संकलित	12.00
23.	भारत के त्योहार	संकलित	12.50

इनके अतिरिक्त सभी आयुवर्गों के लिए सभी भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी में अनेकानेक ट्रस्ट की पुस्तकें:

प्राप्ति-स्थान

सभी प्रमुख विक्रेताओं तथा ट्रस्ट के निम्नलिखित पुस्तक केन्द्रों से

ए-4, ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016
67/2, महात्मा गांधी मार्ग, कलकत्ता-9
सिटी सेंट्रल लाइब्रेरी बिल्डिंग, अशोक नगर, हैदराबाद-20
गवर्नमेंट हायर सेकेंडरी स्कूल, टाउन हाल, अमृतसर
जबलपुर यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी, जबलपुर-482001
यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी, विश्वभारती यूनिवर्सिटी, शान्तिनिकेतन (पं. बंगाल)

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ए-5, ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

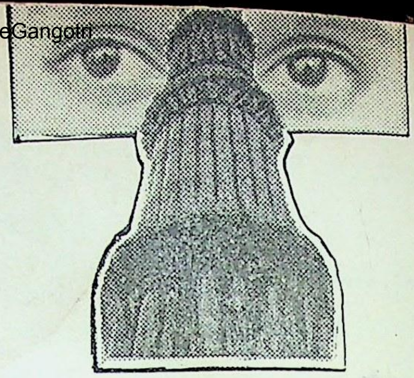

अगला अंक

अंधे पति की खातिर खुद भी अंधापन ओढ़ लेने वाली गांधारी की तथाकथित महानता का मतलब आज की दुनिया में क्या होना चाहिए ?

आंख और मन के अंधेपन में पुरातन और आधुनिक अंतर को रेखांकित करने के लिए इस बार पढ़िए—

द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', सत्येन कुमार, अशोक गुप्ता, धर्मपाल, महाराज कृष्ण काव, देशबंधु की कहानियां

▣ **अंधी कर्मनाशा का महसूल**
—**रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'** का मर्मस्पर्शी संस्मरण कि आज की गांधारी जीवन को किन अर्थों में जीना चाहती है !

▣ **क्रेन से उठते हुए**
—**बाला शर्मा** का उपन्यास अंश

▣ **विदेशी भाषा से**
—**अनातोले फ्रांस** की कहानी

▣ **भरतमुनि के वंशधर**
—नाटक की दुनिया के एक से अनेक पहलुओं के भीतर-बाहर झांकती **सूत्रधार** की नाट्य-नजर.

▣ **तुलसीदास चंदन घिस!**
—**किससे पूछूं कि क्या है, भारतीय संस्कृति!**—**होली के फौरन बाद हरिशंकर परसाई** बनाम तुलसीदास का तिलक संस्कृति बनाने-समझानेवालों के माथे पर.

▣ **दशार्क**
—**जैनेंद्र कुमार** के धारावाही उपन्यास की समापन किस्त.

▣ **मथुरादास की डायरी**

▣ **गलियां: जहां इतिहास कैद है!**
—**बेलगाम ऐयाशी पर एतराज शराफत का!**—**बाला दुबे** की कलमसे इतिहास भूली-बिसरी दास्तां.

● आपकी बात, अपनी बात, कथा-सूत्र, शरारत, तस्वीर बोलती है, लघु-कथाएं, गज़लें, और भुलाये न बनें, पखबारे की पुस्तकें, हलचल आदि सभी स्थायी स्तंभों सहित—

सारिका

1 अप्रैल, 1984

सारिका पढ़ने का मतलब है—हर बार एक नया अनुभव !

Gurukul Kangri Collection, Haridwar